

धर्मशिक्षा

यतोऽभ्युदयनि श्रेयससिद्धि स धम ।

—महर्षि कृष्ण

लेखक

लक्ष्मीधर वाजपेयी

प्रकाशक

तरुण-भारत-ग्रन्थावली-कार्यालय

दारागंज, प्रयाग

मुद्रक :-

जेनरल प्रिण्टिङ्ग वर्क्स,

प्रकाशक राष्ट्रीय दायरी (लिमिटेड)

८१, पुराना बर्नाबाजार स्ट्रीट, बम्बई-१ ।

निवेदन



यह समय हमारे देश के लिए क्रान्ति का युग है। इसलिए जनता की शिक्षा में भी उत्क्रान्ति हो रही है। हमारे देश के विचारशील पुरुष पश्चिमी शिक्षाप्रणाली की त्रुटियों का अब भली भाँति अनुभव करने लगे हैं। इस शिक्षाप्रणाली में सबसे बड़ी त्रुटि यही दिखलाई पड़ती है कि विद्यार्थियों को धार्मिक और नैतिक शिक्षा विलकुल ही नहीं दी जाती। इसका फल यह होता है कि विद्यार्थियों के भावी जीवन में सदाचार और नीति का विकास विलकुल ही नहीं होता। प्रत्येक मनुष्य को उत्तम नागरिक बननेके लिए धर्मनीति की शिक्षा अवश्य मिलनी चाहिये। यह बात अब सर्वमान्य हो गई है।

इसी उद्देश्य को सामने रखकर हिन्दूधर्म के विद्यार्थियों के लिए एक पुस्तक लिखने की बहुत दिन से इच्छा थी। इतने में मेरे मित्र और हिन्दू सभा के उत्साही कार्यकर्ता सरदार नर्मदा-प्रसादसिंह साहब ने इस कार्य के लिए मुझे विशेष रूप से प्रेरित किया। फलतः यह पुस्तक आज से कोई दो वर्ष पूर्व ही तैयार हो चुकी थी, परन्तु हिन्दीप्रकाशकों की अनुदारता, और मेरे पास स्वयं द्रव्य न होने के कारण यह पुस्तक अब तक अप्रकाशित पड़ी रही। अस्तु।

इस पुस्तक के तैयार करने में मुझे हिन्दूधर्म के अनेक ग्रन्थों का अवलोकन करना पड़ा है, और प्रत्येक विषय के

प्रमाणों का संग्रह करके बड़े परिधम से पुस्तक संकलित की गई है। जो कुछ लिखा गया है, उसमें भ्रम अपना कुछ भी नहीं है, अपने पूर्वज श्रुतियों मुक्तियों और कवियों के कथनों का संग्रह करके विद्वानों का ग्रन्थ कर दिया है। हिन्दूधर्म बहुत व्यापक है, और इस कारण उसमें मतभेद भी बहुत हैं। इस पुस्तक में सर्वसाधारण धर्म का ही संक्षेप में निरूपण किया गया है। जिसको मैं हिन्दू धर्म समझा है, और जिसमें मतभेद बहुत कम है उसी का संग्रह किया है। फिर भी धर्मविज्ञानु सज्जनों से मेरी प्रार्थना है कि इसमें धर्म की सही बात, जो उन्हें दिखाई दे, उसीको वे ग्रहण करें, और मतभेद की बातों को मेरे लिए छोड़ दें।

इस पुस्तक के संशोधन में मुझे दारार्गज-दार्गस्त्रुज, प्रयाग के मृतपूर्व संस्कृत-ध्यापक (वर्तमान में, ग्वास्मिर-वरदार के धर्म शास्त्राचार्य) विद्वान् श्रीमान् पं सहायिब शास्त्री महोदय से बहुत सहायता मिली है। माफकी मनेक बसमोचम शुक्लामों का स्वीकार किया गया है। फिर भी जो कुछ बुद्धियां पुस्तक में रह गई होंगी शगडे संस्करण में ठीक कर दी आयेंगी। ग्रन्थालय विद्वान् सज्जनों से भी मेरी क्लिन्न प्रार्थना है कि जो कुछ बुद्धियां पुस्तक में दिखाई हों मुझ को अवश्य सूचित करें। अपनीगी शुक्लामों को ग्रहण करके शगडे संस्करण में अवश्य संशोधन कर दिया जायगा। मेरी दार्मिक इच्छा है कि पुस्तक नार्थ हिन्दूधर्म के विचारियों के लिए पूर्ण उपयोगी हो।

इस पुस्तक के प्रकाशन-कार्य में मुझे रीवां-राज्य के जागीर-
दार देशभक्त सुहृद्द्वर श्रीमान् ठाकुर कृष्णवंशसिंह साहब से
भी सविशेष सहायता मिली है। अतएव उनके प्रति कृतज्ञता
प्रकाशित करना मैं अपना परम कर्तव्य समझता हूँ।

लक्ष्मीधर वाजपेयी

दूसरी आवृत्ति

हर्ष की बात है कि "धर्मशिक्षा" की दूसरी आवृत्ति हमको बहुत शीघ्र निकालनी पड़ी। पुस्तक को सर्वसाधारण जनता में इतना पसन्द किया कि पिछले बार मास के अन्दर ही पहली आवृत्ति की एक हजार प्रतियाँ निकल गईं। फिर भी पुस्तक की माँग बहुत अधिक है, और इसी लिए इस बार इसकी तीसरी हजार प्रतियाँ निकाली गई हैं।

पुस्तक की प्रशंसा में हमारे पास सैकड़ों विद्वानों के पत्र आये हैं, और हिन्दी के प्रायः सभी समाचार-पत्र-सम्पादकों में इसकी बहुत उत्तम समालोचना की है। कई भाई हिन्दू जैन संस्थाओं में अपने विद्यार्थियों के लिए इस पुस्तक को पाठ्य ग्रन्थ के तौर पर नियुक्त किया है। उन सब महाजुमानों को हम हृदय से धन्यवाद देते हैं।

हमारे कुछ मित्रों ने पुस्तक के एक-मात्र अंश पर कुछ मत भेद भी प्रकट किया था। उनकी सूझनाओं को स्वीकार करके इस बार उक्त मतभेद का अंश निकाल दिया गया है। इसके अतिरिक्त, "पाँच महापत्र" नामक जो प्रकरण पहली आवृत्ति में छपा था उसमें एक विषय पर ही विवेचना था पाँच महापत्रों पर बहुत कम लिखा गया था। इस बार इस प्रकरण से "पत्र" का प्रकरण अलग करके इसकी स्वतन्त्ररूप से आचार-रूप में रच दिया है, और पाँचमहापत्र पर एक बहीन निबन्ध लिख दिया है।

कुछ सज्जनोंकी सम्मति है कि पुस्तकमें सन्ध्या, हवन, संस्कार, इत्यादि की विधिया भी मन्त्रों के सहित देनी चाहिए। परन्तु हमारी सम्मति में विधिया देना इस पुस्तक का उद्देश्य नहीं है, क्योंकि एक तो हिन्दुओं में सध्या इत्यादि की अनेक विधिया प्रचलित हैं, अतएव कोई विधि देने से दूसरे का सन्तोष नहीं हो सकता। इसके अतिरिक्त, विधियां यदि देने लगे, तो सोलह संस्कारोंकी विधिया, पंचमहायज्ञोंकी विधिया इत्यादि देने से ग्रन्थ बहुत बढ जायगा। सध्याविधि, पंचमहायज्ञ-विधि, संस्कारविधि इत्यादि की अनेक पोथिया स्वतन्त्ररूप से हिन्दी में छप गई हैं, और सहज ही मिल जाती हैं। अतएव इस पुस्तक में उनके देने की आवश्यकता नहीं समझी गई। यह कर्मकाण्ड का विषय है, और अपने अपने आचार्य के द्वारा ही विद्यार्थियों को उक्त विधियों का अभ्यास करना विशेष उपयोगी होगा। अस्तु।

पुस्तक में और कुछ त्रुटि रह गई हो, तो अवश्य सूचित करना चाहिए। अगले संस्करण में उस पर विचार किया जायगा। आशा है, धर्म-शिक्षा के प्रेमी सज्जन उत्तरोत्तर इस पुस्तक का प्रचार करके हमारे उत्साह को बढ़ाते रहेंगे।

लक्ष्मीधर वाजपेयी

तीसरी आवृत्ति

मात्र "धर्मशिक्षा" की यह तीसरी आवृत्ति निकाळसे रूप में मुद्रित हो चुकी है। परमात्मा की कृपा से अब हमारे देश के लोग धार्मिक शिक्षा के प्रचार में विशेषरूप से भाग ले रहे हैं। यह हमारे लिए बड़े सौभाग्य की बात है। ज्यों ज्यों देश में धर्मशिक्षा का प्रचार होता जाएगा त्यों त्यों हमारे मनुष्य का समय विकृत भाता जाएगा।

इस पुस्तक को हिन्दी पढ़नेवालों के अतिरिक्त संस्कृत के पाठकों में भी मादर के साथ मफलाया है, और देश की अनेक संस्कृत पाठशालाओं में उत्तरोत्तर इस पुस्तक का प्रचार बढ़ रहा है। मध्यापकनाथ और सर्व साधारण लोग बड़े उत्साह के साथ इस पुस्तक का स्वाध्याय तथा प्रवचन कर रहे हैं। इसी कारण एक साल के बाद ही, हमको मात्र यह तीसरी आवृत्ति तीन हजार की फिर निकालनी पड़ी।

अब की बार पुस्तक का बंधनस्वरूप और भी सुन्दर बना दिया गया है। जाया है धर्मप्रेमी उच्च शिक्षासुगम पुस्तक का उत्तरोत्तर प्रचार करते हमारे उत्साह को वृद्धिकृत करेंगे।

दारासँद, प्रयाग ।
काल्पुत्र कुल्लु १ । १९८९ }

छद्ममीशर वाजपेयी

चौथी आवृत्ति

अत्यन्त हर्ष की बात है कि हमारी “धर्मशिक्षा” का प्रचार उत्तरोत्तर बढ़ रहा है। देशमें धर्मजागृति होने का यह बड़ा शुभ चिन्ह है। सी० पी० और यू० पी० के कुछ म्यूनिसिपल और डिस्ट्रिक्ट बोर्डों ने भी इस पुस्तक को अपने पाठ्यक्रम में स्थान दिया है। इससे मालूम होता है कि देश के शिक्षाप्रेमी अब बालकों को धार्मिक शिक्षा देने की आवश्यकता का अनुभव करने लगे हैं। “धर्मशिक्षा” की चतुर्थ आवृत्ति निकालते हुए हम इसके प्रचारकों को हार्दिक धन्यवाद देते हैं।

द्वारागंज, प्रयाग ।
मार्गशीर्ष कृष्ण १३,
६० १९८८ वि०

}

लक्ष्मीधर वाजपेयी

पांचवीं आवृत्ति

धर्मशिक्षा के प्रेमियों को यह जानकर हर्ष होगा कि हमारी इस “धर्मशिक्षा” का स्वागत न सिर्फ हिन्दी जनता ने ही किया है; बल्कि गुजरात प्रान्तमें भी इस पुस्तकका प्रचार बहुत अच्छा हो रहा है। गुजराती भाई इसको हिन्दी में ही पढ़ना पसन्द करते हैं। अतएव यह पुस्तक गुजरात में हिन्दी-प्रचार के लिए माध्यम का कार्य कर रही है।

कां भद्रानु धर्मधेर्मौ और वैशम्पद धनीमानी सञ्जग एत
 पुस्तक की प्रतिपां बरीव कर प्रबाराय वितीर्ण करते पढ़ते हैं ।
 कुछ सञ्जनों को तो पुस्तक इतनी पसन्द आई है कि वे इसको
 "वाजपेयी-स्मृति" कह कर सर्वत्र अपने पास रखते हैं । मैं सम-
 मता हूँ कि इसमें मेरा कोई श्रेय नहीं है । बल्कि जिन ऋषियों
 मुनियों और कवियों के भाषार पर यह पुस्तक तैयार की गई
 है, जन्हीं का यह भागीर्वाद है ।

द्वारापद प्रकाश
 आशुपुष्पिका १९९३ वि

} लक्ष्मीधर वाजपेयी

छठवीं श्रावृत्ति

राजनीतिक संघर्ष के साथ ही इस समय देश में धार्मिक
 संघर्ष भी बढ़ रहा है । इसलिये स्वामाजिक ही अपने धर्म के
 विषय में भी तीव्र विचारों इस समय जगता के हृदय में बढ़
 रही है । हिन्दूधर्म के विषय में तो सविशेष प्राप्ति देश में
 विचारों हो रही है । छोटे धर्म के सन्धे स्वल्पको समझना
 चाहते हैं ।

"धर्मसिद्धा" पुस्तक का प्रचार भी अथिकाधिक इसी
 कारण बढ़ रहा है । इस में हिन्दूधर्म को साफ तौर पर रखने

की कोशिश की गई है। धर्म का एक क्रियात्मक स्वरूप होता है, जिस पर सहज में अमल किया जा सकता है, और एक स्वरूप ऐसा होता है जो केवल "श्रद्धा," अन्धभक्ति पर अवलम्बित रहता है। धर्मके दोनों स्वरूपों की आवश्यकता सर्वमान्य है पर आज दिन हमारे देश को पहले धर्मके व्यवहारिक रूप की आवश्यकता है, और यह आवश्यकता कम से कम आशिक रूप में तो अवश्य ही इस पुस्तक से पूर्ण होती है। इसी कारण सर्वसाधारण जनताने इस पुस्तक को विशेष रूप से पसन्द किया है।

इसके कई उदाहरण हमारे सामने हैं। सब से ताजा और प्रभावशाली क्रियात्मक उदाहरण इस समय हमारे सामने कलकत्तेके श्री मनसुखराय मोर (फर्म सेठ रामसहायमल मोर) का है। "धर्मशिक्षा" पढ़कर ग्रन्थकारको आपने स्मरण किया। मिलनेपर मालूम हुआ कि श्री मनसुखराय मोर पूर्व जन्म के बड़े ही पुण्यात्मा व्यक्ति हैं, और उसीका यह परिणाम है कि धर्म को क्रियात्मक रूप से धारण करने की ओर आपकी इतनी प्रवृत्ति हुई। फलत आपने "धर्मशिक्षा" की छठवीं आवृत्ति को १०००० की सख्या में प्रकाशित करके जनता में उसे प्रचारित करने की अभिलाषा प्रकट की। निस्सन्देह "धर्मशिक्षा" को लाखों व्यक्ति अब तक पढ़ चुके हैं, पर उस पर अपने जीवन में अमल करके दिव्य आनन्द उठानेवाले पुण्यात्मा व्यक्ति कितने होंगे। अतएव इस पुस्तक के प्रचार के सच्चे अधिकारी

श्री मलसुखराय मोर ही हैं। साथ ही भगवान् से मेरी प्रार्थना है कि धर्म की धोर खर्च भावकी ऐसी ही तबि किनों दिन वृद्धिपुत्र होती रहे, जिससे "मन्युष्य" और "निःश्रेयस" भावको इसी क्रम में मिटे और अन्य भावों को भावका अनुकरण करने की सुबुधि प्राप्त हो। यही कल्पकार की दार्शनिक समझाया

भा. ४४४ ८ सं १९९० वि
द्वारागर्भ प्रकाश ।

} लक्ष्मीधर वाजपेयी



अनुक्रमणिका



पहला खंड

(धर्म क्या है)

विषय	पृष्ठ	विषय	पृष्ठ
(१) धर्म	१	(७) इन्द्रियनिग्रह	३२
(२) धृति	७	(८) धी (बुद्धि-विवेक)	३७
(३) क्षमा	१२	(९) विद्या	४३
(४) दम	१६	(१०) सत्य	४८
(५) अस्तेय	२१	(११) अक्रोध	५३
(६) शौच	२८	(१२) धर्मग्रन्थ	५७

दूसरा खंड

(वर्णाश्रम-धर्म)

(१) चार वर्ण	६५	(३) पांच महायज्ञ	९४
(२) चार आश्रम	७३	(४) सोलह सत्कार	९९

तीसरा खंड

(आचार-धर्म)

(१) आचार	१०५	(८) गुरुभक्ति	१४२
(२) ब्रह्मचर्य (वीर्यरक्षा)	१०९	(९) स्वदेशभक्ति	१४७
(३) यज्ञ	११४	(१०) अतिथि सत्कार	१५१
(४) दान	१२०	(११) प्रायश्चित्त और शुद्धि	१५६
(५) तप	१२७	(१२) अहिंसा	१६९
(६) परोपकार	१३३	(१३) गोरक्षा	१७७
(७) ईश्वर-भक्ति	१३८		

चौथा खंड

(दिनपर्या)

दिन	पृष्ठ	क्रिया	पृष्ठ
(१) माहसुहृत्	१८३	(४) भोजन	१९३
(२) स्नाय	१८८	(५) विद्या	१९७
(३) व्यायाम	१९		

पांचवां खंड

(अप्यात्मपर्य)

(१) विचार	२०५	(४) पुनर्जन्म	२१२
(२) बीष	२१	(५) माह	२१६
(३) वृष्टि	२१४		

छठवां खंड

(गृह्णित-संशय)

(१) विद्या	२३५	(११) ची	२५१
(२) कलसगति	२३९	(१२) वरुणी-विशेष	२५२
(३) सन्तोष	२४०	(१३) रैव	२५४
(४) माहवृत्ति	३	(१४) वरगृह्यमय	२५५
(५) पुत्रं	२४२	(१५) राश्रीति	२५६
(६) मित्र	४४	(१६) वृत्तीति	२६
(७) बुद्धिमाह	२४६	(१७) माहाराश्रीति	२६१
(८) वृत्तं	२४७	(१८) व्यवहारशीति	२६४
(९) वं भीरु मर्त्य	२४९	(१९) मृत	२६६
(१०) कृष्णा	२५		

धर्म-शिक्षा पर कुछ सम्मतियाँ

‘The very fact that in only about four months time since the publication of the first edition of it another had to be brought out testifies to the value and the immense popularity of this book. It contains beautifully well-written short essays—a sort of lay sermons—on a number of subjects of morality and ethics and as such it makes an excellent text-book for students in school. It is in fact written with that aim in view and therefore those interested in the full development of the moral, the religious and the patriotic instincts in the students should find the book particularly suited for the purpose. The subject, the tenor and the style of the book is in marked contrast to those generally found in the text-books at present, prescribed for use in Government or Government-aided institutions. We earnestly commend the publication to the attention of the members of the text-book committees

—सर्वलाइट”

“पंडित लक्ष्मीधर वाजपेयी हिन्दी के पुराने और प्रसिद्ध लेखक हैं। आप हिन्दी-केसरी, हिन्दी-चित्रमयजगद, आर्यमित्र, आदि कई पत्रों के सम्पादक रह चुके हैं, आपने कितनी ही महत्वपूर्ण पुस्तकें लिखी हैं। हर्ष की याद है कि यह ‘धर्मशिक्षा’ भी वाजपेयीजी की ही हस्त लेखनी द्वारा लिखी गई है। पुस्तक “धर्मशिक्षा” देने के लिये बहुत उपयोगी है। इसमें एक बात जो खास रखी गई है, वह यह

(१२)

चौथा खंड

(दिनचर्या)

	पृष्ठ	विषय	पृष्ठ
१) अथाय	१८६	(४) भोजन	१९३
२) अथायाम	१८८	(५) विद्या	१९७
	१९		

पांचवां खंड

(अध्यात्मधर्म)

(१) विचार	२५	(४) दुःखग्राम	२२२
(२) शीघ्र	२१	(५) मोक्ष	२२६
(३) वृद्धि	२१४		

छठवां खंड

(मूर्ति-सभ्य)

(१) विद्या	२३५	(११) श्री	२५१
(२) मत्स्यपति	२३६	(१२) पराधी-विषय	२५२
(३) सन्तोष	२४७	(१३) श्व	२५३
(४) साधकृति	३९	(१४) परपुरुषग्राम	२५५
(५) दुःख	२४२	(१५) परानीति	२५६
(६) मित्र	२४४	(१६) कृष्णीति	२६
(७) बुद्धिमात्र	२४६	(१७) साक्षात्कामीति	२६१
(८) कर्म	२४७	(१८) अथवाहारणीति	२६३
(९) श्री और मर्म	२४	(१९) कर्तु	२६६
(१०) वृत्ता	२५		

धर्म-शिक्षा पर कुछ सम्मतियाँ

‘The very fact that in only about four months time since the publication of the first edition of it another had to be brought out testifies to the value and the immense popularity of this book. It contains beautifully well-written short essays—a sort of lay sermons—on a number of subjects of morality and ethics and as such it makes an excellent text-book for students in school. It is in fact written with that aim in view and therefore those interested in the full development of the moral, the religious and the patriotic instincts in the students should find the book particularly suited for the purpose. The subject, the tenor and the style of the book is in marked contrast to those generally found in the text-books at present, prescribed for use in Government or Government-aided institutions. We earnestly commend the publication to the attention of the members of the text-book committees

—सर्वलाइट’

“पंडित लक्ष्मीधर घाजपेयी हिन्दी के पुराने और प्रसिद्ध लेखक हैं। आप हिन्दी-केसरी, हिन्दी-चित्रमयजगत्, आर्यमित्र, आदि कई पत्रों के सम्पादक रह चुके हैं, आपने कितनी ही महत्वपूर्ण पुस्तकें लिखी हैं। हर्ष की याद है कि यह ‘धर्मशिक्षा’ भी घाजपेयीजी की ही ललित लेखनी द्वारा लिखी गई है। पुस्तक “धर्मशिक्षा” देने के लिये बहुत उपयोगी है। इसमें एक बात जो खास रखी गई है, वह यह

है कि सबातमी तथा भार्षसमाजी दोनों समाजक से इस पुस्तक-द्वारा काम उठा सकते हैं। पुस्तक की भाषा परिमार्जित, छोटी छन्द और कामान्तर है। ऐसी किताबों को स्कूलकी धार्मिक शिक्षा में रख देने से बहुत फायदा हो सकता है।”

—“भार्षसमाजी”

“बाइबेलीकी की इस कृति को बिना किसी द्विचक्रिबाहर के हिन्दू धर्म की कुछ भी कद सकते हैं। इसे धाप पढ़ें—धाप को हिन्दूधर्म की सभी मोटी मोटी बातें, मोटियों की तरह गुंथी मिल जावैगी। विचारकों के सिद्ध, कोमलमति बाइबेलों के सिद्ध, तो यह अत्यन्त आचरपक चीज़ है। हमारी धार्मिक इच्छा है कि हिन्दू-प्रभाव प्रदोषों के विद्या-विषय इस—बड़े परिष्कृत और कोमल सिद्धी हूँ—पुस्तक को अन्तर्गत और प्रान्त के बाइबेलों में इसका और इसकी अत्यन्तसिद्धियों का प्रचार करें।”

—“मत्तवाका”

‘बहुत दिन से शिक्षा से सम्बन्ध रखनेवाले लोग इस बात की आश्चर्यचकता अनुभव कर रहे हैं कि धार्मिक और वैदिक शिक्षा देनेवाली पुस्तकों का हिन्दू प्रभाव हो। ऐसी अर्थस्वा में बाइबेली की ने इस पुस्तक को लिखकर बड़ा अच्छा किया। इस पुस्तक को सब तरह से बखोसी बखाने में कोई कसर नहीं रखी गई है। हम आशा करते हैं कि शिक्षा-अर्थस्वा इसे अपने नया पाठ्यक्रम बना कर केन्द्र का परिष्कृत सचक करेंगी।

—“वैदिक”

“The nature of the book is didactic. It deal with teachings re a practical moral life. The author has treated the life of an individual in society in its various aspects. He has taken pains to support his statements with copious extracts from Hindu religious books. The book gives excellent moral teaching to youngmen

—“वैदिक”

पहला खण्ड

धर्म क्या है

“दशलक्षणको धर्मः सेवितव्यः प्रयत्नतः”

—मनु० अ० ६—९१

धर्मशिक्षा



धर्म

वैशेषिक शास्त्र के कर्ता कणाद मुनि ने धर्म की व्याख्या इस प्रकार की है —

यतोऽन्युदयनिःश्रेयससिद्धिः स धर्मः ।

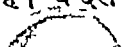
अर्थात् जिससे इस लोक और परलोक, दोनों में सुख मिले, वही धर्म है। इससे जान पड़ता है कि जितने भी सत्कर्म है, जिनसे हमको सुख मिलता है, और दूसरों को भी सुख मिलता है, वे सब धर्म के अन्दर आ जाते हैं।

हम कैसे पहचानें कि यह मनुष्य धार्मिक है, इसके लिए मनु महाराज ने धर्म के दस लक्षण बतलाये हैं। वे लक्षण इस प्रकार हैं —

धृति क्षमा दमोऽन्तेयं शौचमिन्द्रियनिग्रहः ।

धीर्विद्या सत्यमक्रोधो दशकं धर्मलक्षणम् ॥

अर्थात् जिस मनुष्य में धैर्य हो, क्षमा हो, जो विषयों में फँसा न हो, जो दूसरों को बस्तु को मिट्टी के समान समझता हो, जो भीतर-बाहर से स्वच्छ हो, जो इन्द्रियों को विषयों की ओर से रोकता हो, जो विवेकशील हो, जो विद्वान् हो, जो सत्यवादी, सत्यमानी और सत्यकारो हो, जो क्रोध न करता हो, वही पुरुष धार्मिक है। ये दस बातें यदि मनुष्य अपने अन्दर



घारण कर छे, ता कह न तो स्वयं बुद्ध पाये न कोई वसकी
बुद्ध हे सके, भीर न यह किसी को बुद्ध हे सके ।

मनुष्य इस संसार में जो सत्कर्म करता है, जो कुछ वह
धर्म-संबंध करता है, वही इस लोक में उसके साथ रहता है,
भीर उस लोक में भी वही उसके साथ जाता है । साधारण
लोगों में कहावत तो है कि, यश-अपयश रह जायगा, भीर
वश सब जायगा । यह ठीक है । मनुष्य ने तो यही कहा है—

यत् धीरसुखं च काङ्क्षोऽसमं जितं ।

विमुखा वाग्धवा वाग्ध्वि कर्मस्तमकुण्डलि ॥

अर्थात् मनुष्य के मरने पर तर के लोग उसके मृत शरीर को
काठ भण्डा मिट्टी के बेंडे की तरह स्मरण में विसर्जन करके
विमुक्त होकर जाते हैं तब तो उसका सत्कर्म—धर्म—ही उसके
साथ जाता है ।

सायं ऐसा कहा जाता है कि जो लोग धर्म छोड़ देते
हैं—अधर्म से कार्य करते हैं, उनकी पहले वृद्धि होती है
परन्तु वही वृद्धि उनके नाम का कारण होती है । मनुष्य ने
कहा है —

अधर्मेनेहते तावन्तो ज्ञानि परवति ।

तवःस्तव्यात् अवति स्मृन्तु विगवति ॥

अर्थात् मनुष्य अधर्म से पहले बढ़ता है, उसकी कुछ मात्रा
होती है (अर्थात् तं) शत्रुओं को भी भीतता है, परन्तु अन्त
में अहं से नाश हो जाता है । इसलिये धर्म की मनुष्य को
पहले रक्षा करनी चाहिये । जो मनुष्य धर्म को मारता है, धर्म
तो उसका मार देता है और जो धर्म की रक्षा करता है धर्म
तो उसकी रक्षा करता है । इसलिये व्यास मुनि ने महाभारत में
कहा है कि धर्म को किसी देश में भी नहीं छोड़ना चाहिये—

न जातु कामान्न भयान्न लोभाद् ।
 धर्मं त्यजेज्जीवितस्यापि हेतो ॥
 धर्मो नित्य सुखदुःखे त्वनित्ये ।
 जीवो नित्यो हेतुरस्य त्वनित्य ॥

न तो किसी कामनाचश, न किसी प्रकार के भय से, और न लोभ से—यहा तक कि जीवन के हेतु से भी—धर्म को नहीं छोड़ना चाहिए, क्योंकि धर्म नित्य है और ये सब सासारिक सुख-दुख अनित्य है। जीव, जिसके साथ धर्म का सम्बन्ध है, वह भी नित्य है, और उसके हेतु जितने हैं वे सब अनित्य हैं। इसलिए किसी भी कारण से धर्म का त्याग नहीं करना चाहिए।

स्वधर्म के विषय में भगवान् कृष्ण ने गीता में यहा तक कहा है कि—

श्रेयान्स्वधर्मो विगुण परधर्मात्स्वनुष्ठितात् ।
 स्वधर्मे निधन श्रेय परधर्मो भयावह ॥

अर्थात् अपना धर्म चाहे उतना अच्छा न हो, और दूसरे का धर्म चाहे बहुत अच्छा भी हो, पर तो भी (दूसरे का धर्म स्वीकार न करे) अपने धर्म में मर जाना अच्छा, पर दूसरे का धर्म भयानक है।

इसलिए अपने धर्म की मनुष्य को यत्न के साथ रक्षा करनी चाहिए। मनुजी ने कहा है कि—

धर्म एव दत्तो हन्ति धर्मो रक्षति रक्षित ।

तस्माद्धर्मो न हन्तव्यो मा नो धर्मो हतो वधीत् ॥

अर्थात् धर्म को यदि हम मार देंगे, तो धर्म भी हमको मार देगा। यदि धर्म की हम रक्षा करेंगे, तो धर्म भी हमारी रक्षा करेगा। इसलिए धर्म को मारना नहीं चाहिए। उसकी रक्षा

करनी चाहिए। यदि प्रायश्चित्त की आवश्यकता हो तो प्रायश्चित्त ही है, परन्तु धर्म बचानी है इसे नहीं। यही मनुष्य का पथ कर्तव्य है। वास्तव में मनुष्य और पशु में यही तो भेद है कि मनुष्य को ईश्वर ने धर्म दिया है, और पशुओं को धर्माधर्म का कोई ज्ञान नहीं। अन्य सब बातें पशु और मनुष्य में समान ही हैं। किसी ने ठीक कहा है—

आहारविद्यामन्मनुष्यं च, सामान्यमेतत् पशुनिर्भराणाम् ।

धर्मो हि तेषामस्मिन् विवेको धर्मैव होवा पशुभिः समानः ॥

अर्थात् आहार, विद्या भय, मीथुन इत्यादि सांसारिक बातें पशु और मनुष्य दोनों में एक ही समान होती हैं। एक धर्म ही मनुष्य में विशेष होता है, और जिस मनुष्य में धर्म नहीं वह पशु के तुल्य है।

इसके लिए मनुष्य को चाहिए कि, अपनी इस छोटी सी परलोक की उन्नति के लिए सदैव अच्छे अच्छे गुणों को धारण करे। कई लोग कहा करते हैं कि, भसी तो हमारा बहुत सा जीवन बाकी पड़ा है। अब तक बच्ये है केले-कुर्से बचानी में कुछ आनन्द भोग करें, फिर जय बड़े होंगे धर्म को देखेंगे। यह भावना बहुत ही भूल की है। क्योंकि जीवन का कोई ठिकाना नहीं है। न जाने कबसे कब मा जावे ! फिर जीवन फल, सम्पत्ति का भी यही हाल है। ये सब सदैव चलेबाड़ी चीजें नहीं हैं। धर्म तो मनुष्य का जीवन भर का साथी है, और मरने के बाद भी वही साथी होता है। इसलिए बाह्य व्यवस्था से ही धर्म का सम्पादन करना चाहिए। धर्म के लिए कोई समय विहित नहीं है कि, प्रत्येक व्यवस्था में ही मनुष्य धर्म करे। व्यासजी ने महाभारत में कहा है :—

न धर्मकालः पुरयत्य निश्चितो ।
 न चापि मृत्युं पुर्य प्रतीक्षते ॥
 सदा हि धर्मस्य क्रियैष शोभना ।
 सदा नरो मृत्युमुपेऽभियहते ॥

अर्थात् मनुष्य के धर्माचरण का कोई समय निश्चित नहीं है और न मृत्यु ही उसकी प्रतीक्षा करेगी। मृत्यु ऐसा नहीं सोचेगी कि, कुछ दिन और ठहर जाओ, जब यह मनुष्य कुछ धर्म कर ले, तब इसका आस करो। इस लिए, जब कि मनुष्य, एक प्रकार से सदैव ही मृत्यु के मुख में रहता है, तब मनुष्य के लिए यही शोभा देता है कि, वह सदैव धर्म का आचरण करता रहे।

१—धृति

धृति या धैर्य धर्म का पहला लक्षण है। किसी कार्य को साहस-पूर्वक प्रारम्भ कर देना, और फिर उसमें चाहे जितनी आपत्तियाँ आवें, उसको निर्वाह करके पार लगाना धृति या धैर्य कहलाता है। भगवान् कृष्ण ने गीता में तीन प्रकार की धृति बतलाते हुए उसका लक्षण इस प्रकार दिया है.—

धृत्या यथा धारयते मन प्राणेन्द्रियक्रिया ।

योगेनाव्यभिचारिण्या धृति सा पार्थ सात्त्विकी ॥

भगवद्गीता अ० १८

हे पार्थ योग से अटल रहनेवाली, जिस धृति से मन, प्राण और इन्द्रियों की क्रियाओं को मनुष्य धारण करता है, वह धृति सात्त्विकी है।

पुति या धैर्य जिस मनुष्य में नहीं है वह मनुष्य कोई भी कार्य संसार में नहीं कर सकता। इसका मन सदा डायाडोल रहता है। किसी कार्य के प्रारम्भ करने का उसे साहस ही नहीं होता। राजर्षि मत् हरि महाराज ने कहा है —

भारभक्त न बहु विजग्मेन वीरैः ।

प्रारम्भ विजविहिता विरमन्ति यथा ॥

विजैः ह्युत पुनरपि प्रतिवृत्तमायाः ।

प्रारम्भ बोधमज्जयाः न परित्यजन्ति ॥

भयात् जिममें धैर्य नहीं है वे विजों के भय से पहले हा धबड़ा जाते हैं, और किसी कार्य के प्रारम्भ करने का उनको साहस ही नहीं हाता। येसे पुरख नीचे द्रखे के हैं। और जो उनसे कुछ अच्छे मध्यम दर्जे के हैं वे कार्य प्रारम्भ तो कर देते हैं पर बीच में विज भा जाने से अपूरा ही छोड़ देते हैं। इन्हीं को कहते हैं,— प्रारम्भभ्रार। भय जो सय से बहुत धैर्यशास्त्री पुरख हैं वे विजोंके बार बार भानि पर भी कार्य का अन्त तक पहुँचा देते हैं। बीचमें अपूरा नहीं छोड़त। बरिच बीच में जो संकट और याथायें भाली हैं उनसे धैर्यशास्त्री पुरख का उत्साह तथा तेज और भी अधिक पढ़ जाता है।

येसे धैर्यशास्त्री पुरखों का धर्म का फल हाता है, व सांसारिक निन्दा-म्लुनि, दर्प-शोक इत्यादि की परवा नहीं करतै। जो कार्य उनको न्याय और धर्म का मातृम होता है उसमें उनके सामने बिजत ही संकट घाबें उनकी परया वे नहीं करतै और अपने न्याय के माग पर बराबर खटे रहत है। मत् हरि जो पुन कहते हैं —

निन्दन्तु नीतिनिपुणा यदि वा स्तुवन्तु ।

लक्ष्मी समाविशतु गच्छतु वा यथेष्टम् ॥

अथैव वा मरणमस्तु युगान्तरे वा ।

- न्याय्यात्पथः प्रविचलन्ति पद न धीरा ॥

नीतिनिपुण लोग चाहे उनकी निन्दा करें, और चाहे प्रशंसा करे, लक्ष्मी चाहे आवे, और चाहे चली जाय, आज मृत्यु हो, चाहे प्रलयकाल में हो, जो धीर पुरुष हैं, वे न्याय के पथ से विचलित नहीं होते ।

मरना-जीना तो ऐसे आदमियों के लिए खेल होता है । वे समझते हैं कि हमारी आत्मा तो अमर है—एक चोला छोड़ कर दूसरे चोले में चले जायेंगे । कृष्ण भगवान् कहते हैं —

देहिनोऽस्मिन् यथा देहे कौमार्यौवन जरा ।

तथा देहान्तरप्राप्तिर्धीरस्तत्र न मुह्यति ॥

य हि न व्यथयन्त्येते पुरुष पुरुषर्षभ ।

समदुःखसुखं धीर सोऽमृतत्वाय कल्पते ॥

भगवद्गीता ।

धैर्यशाली पुरुष, समझते हैं कि जैसे प्राणी की इल देह में बालपन, जयानी और बुढ़ापा की अवस्था होती है, इसी प्रकार इस चोले को छोड़कर दूसरे चोले का धारण करना भी प्राणी की एक अवस्था-विशेष है । और ऐसा समझ कर वे मोह में नहीं पडते । हे पुरुषश्रेष्ठ अर्जुन, जो धैर्यशाली पुरुष सुख-दुःख को समान समझता है वही अमर होने का अधिकारी है ।

महाभारत शान्तिपर्व में व्यासजी ने इस प्रकार के धैर्यशाली पुरुष को हिमालय पर्वत की उपमा दी है —

न पंडिता इव स्वसि भाग्यिच्छत न चापि संसीदति न प्रदुष्यति ।

न चापि दुष्कृतान्तरेषु क्षीयते स्वित्ता प्रकृत्वा दिनवाचिवाक्यम् ॥

अर्थात् ऐसा धर्मशास्त्री पंडित पुरुष न तो क्रोध करता है, और न इन्द्रियों के विषयों में फँसता है न बुझी होता है, और न हर्ष में वृम्भता है, चाहे जिसने मारी संकट उस पर भाकर पड़े पर वह घबड़ा कर कर्त्तव्य से नहीं बिगता—हिमाक्षय की तरह मचल रहता है । पुनश्च —

धर्मशिक्षितः परमा न हर्षकेन्द्रीयं काले न्यस्रवं न मोहयेत् ।

एते च दुःखं च क्लेशं मन्त्र्यं विवेकते का स दुःखन्वरो वपः ॥

महाभाष्ये साहित्यम् ।

चाहे जिसने धर्म उसको मिला जाय वह हर्ष नहीं मानता और चाहे जिसने कष्ट उस पर भाजाये वह घबड़ाता नहीं—ऐसा पुरुष पर मनुष्य सुखदुःख दोनों में अपने को समरूप रखता है । जैसे समुद्र अपनी मर्यादा का धारण करता है, उसी प्रकार भीर पुरुष सर्वत्र भीर-वाम्भोर रहकर अपनी मर्यादा का नहीं छोड़ता ।

जिस पुरुष में धैर्य होता है वह ईश्वर को छोड़कर किसी से डरता नहीं । निर्मयता धर्मशास्त्री पुरुष का मुख्य लक्षण है । ऐसा मनुष्य, धर्म को संस्थापना के लिए, दुर्गा के चढ़ को नष्ट करने में अपनी सारा शक्ति लगा देता है, और सज्जनों के चढ़ को बढ़ाता है । किसी बालकी परवा न करती हुए अपनी प्रतिष्ठा पर भरक रहता है । एक कवि ने कहा है :—

अर्थः क्लेशं क्षीयतिरवीह ना भूत्सर्वं एवास्तु त्वापि वीरता ।

निःस्वप्रतिष्ठानविकल्पनाया नरोत्तम्या धर्मप्रचारकम् ॥

अर्थात् धर्म सुख या इत्यादि चाहे कुछ भी न हो और चाहे

जितनी हानि हो, परन्तु धैर्यशाली पुरुष अपनी प्रतिज्ञा पर आरुढ़ रहते हुए सदा उत्साहपूर्वक महान् उद्योग में लगे रहते हैं।

इसलिए धैर्य को धारण करना मनुष्य के लिए बहुत आवश्यक है। चाहे जितना भारी सकट आवे, धैर्य नहीं छोड़ना चाहिये। किसी कवि ने ठीक कहा है —

त्याज्यं न धैर्यं विधुरेऽपि काले धैर्यात्कदाचिद्गतिमाप्नुयात्स ।

यथा समुद्रेऽपि च पोतभगे सायान्निको घाळति ततुमेव ॥

अर्थात् चाहे जितना सकटकाल आवे, धैर्य न छोड़ना चाहिये, क्योंकि शायद धैर्य धारण करने से कोई रास्ता निकल आवे। देखो, समुद्र में जब जहाज डूब जाता है, तब भी उसके यात्री-गण पार जाने की इच्छा रखते हैं, और धैर्य के कारण बहुत से लोगों को ऐसे ऐसे साधन मिल जाते हैं कि जिनसे उनका जीवन बच जाता है।

अतएव जो मनुष्य धैर्यशाली है, उसको धन्य हैं। ऐसे मनुष्य बहुत थोड़े होते हैं, और ऐसे ही लोगों से इस ससार की स्थिति है। किसी कवि ने ऐसे धीर पुरुषों की प्रशंसा करते हुए कहा है —

सपदि यस्य न हर्षो विपदि विपादो रणे च भीरुत्वम् ।

त भुवनत्रयतिलकं जनयति जननी शुत विरलम् ॥

जिनको सम्पदा में हर्ष नहीं, और विपदा में विपाद नहीं तथा रण में निर्भय होकर शत्रु का नाश करते हैं, कभी पीठ नहीं दिखाते, ऐसे धीर पुरुष, तीनों लोकों के तिलक हैं। माता ऐसे विरले सुत पैदा करती है। सब को ऐसे ही श्रेष्ठ पुरुष बनने का प्रयत्न करना चाहिए।

२—क्षमा

मनुष्य को भीतर-बाहर से कोई कुछ उत्पन्न हो चाहे किसी दूसरे मनुष्य के द्वारा वह कुछ उसे दिया गया हो, और चाहे उसके कर्मों के द्वारा हो उसे मिला हो, पर उस दुःख को सहन कर जाय। उसके कारण कोष न करे, और न किसी को हानि पहुंचावे। इसी का नाम क्षमा है। क्या सहनशीलता, अक्रोध, नम्रता, अहिंसा शान्ति इत्यादि सबगुण क्षमा के साथी हैं। क्योंकि जिसमें क्षमा करेगी का शक्ति होगी उसी में सब बातें हो सकती हैं।

क्षमा का सप से बड़ा उदाहरण घण्टी माता है। घण्टी का दूसरा नाम हो क्षमा है। घण्टी पर लाग मलमूत्र करते हैं, धुंकते हैं उसका इतना धारड़ा कुदाळ इत्यादि से काटते मारते हैं सब प्रकार के बर्थावार प्राणो पृथ्वी पर करते हैं, परन्तु पृथ्वीमाता सब का सहन करती है। सहन ही नहीं करती बल्कि उल्टे सबका उपकार करती है। सबका भयभीती पर धारण करिये हुए है। नाश प्रकार के अन्न, फल-फूल बलस्यति इकर सब प्राणिमात्र का पाठन पोषण करती है, इसीलिए उसका नाम क्षमा है।

क्षमा का गुण सब मनुष्यों में भवश्यक होना चाहिए। संसार में ऐसा भी कोई मनुष्य है जिसने कभी किसी का अपराध न किया हो? यदि ऐसा कोई मनुष्य हो तो वह मूढ़ हो किसीका अपराध सहन न करे, परन्तु वास्तव में ऐसा कौन मनुष्य है? हमें तो संसार में ऐसा एक भी मनुष्य दिखाई नहीं देता कि जिसने आप-सूक्त कर, भयभीत मुख से

कभी किसी का अपराध न किया हो। ऐसी दशा में क्षमा धारण करना प्रत्येक मनुष्यका परम कर्तव्य है।

मनुष्य में यदि क्षमा न होगी, तो संसार अज्ञान्तिमय हो जायगा। एक के अपराध पर दूसरा क्रोध करेगा और फिर दूसरा भी उसके बदले में क्रोध करेगा। आपस में लड़ें-मरें और कटेंगे। संसार में दुःख का ही राज्य हो जायगा। सब एक दूसरे के शत्रु हो जायेंगे। मित्रता के भाव का संसार से लोप हो जायगा। इसलिए मैत्री-भाव बढ़ाने के लिए क्षमा की बड़ी आवश्यकता है। क्षमा से बड़े-बड़े शत्रु भी मित्र बन जाते हैं। नोति कहती है —

क्षमाशस्त्रं क्वे यस्य दुर्जनं किं करिष्यति ।

अतूणे पतितो बहि स्वयमेव प्रणम्यति ॥

अर्थात् क्षमा का हथियार जिसके हाथ में है, दुष्ट मनुष्य उसका क्या कर सकता है? वह तो आप ही आप शान्त हो जायगा—जैसे घासफूस से रहित पृथ्वी पर गिरी हुई आग आप ही आप शान्त हो जाती है।

बहुत बार ऐसा भी देखा गया है कि साधुओं की क्षमा के प्रभाव से दुर्जन लोग, जो पहले उनके शत्रु थे, मित्र बन गये हैं। क्योंकि चाहे दुर्जन ही क्यों न हो, कुछ न कुछ मनुष्यता उसमें रहती है, और क्षमा करने पर फिर वह अपने अपराध पर पछताता है और लज्जित होकर कभी कभी फिर स्वयं क्षमा माग कर मित्र बन जाता है। इसलिए मृदुता या क्षमा से सब काम सधते हैं। एक कवि ने कहा है —

मृदुना दास्यं हन्ति मृदुना हन्त्यदास्यम् ।

नासाध्यं मृदुना किञ्चित्स्मात्सीमतरं मृदु ॥

अर्थात् कोमलता, कठोरता को मार देती है, और कोमलता का तो मारपी ही है। ऐसा कोई काम नहीं जो कोमलता से सध न सके। इसलिये कोमलता ही बड़ी भारी कठोरता है। साधु लोग अशोध, अर्थात् क्षमा से ही शोध को मोठते हैं, और अपनी क्रांति से दुर्जनोको जीत लेते हैं।

परन्तु नीति और धर्म यह भी कहता है कि, सब समय में क्षमा मा बण्ठी नहीं होती। विशेष कर क्षत्रियों के लिये तो क्षमा का व्यवहार बहुत सोच-समझकर करना चाहिए। पास्तत्र में भीतर से लूया रखकर—शत्रु के भी हित की कल्पना करके यदि बाहर से शोध दिखलाया जाय तो इसका नाम शोध नहीं होता। यह तेजस्विता है और तेजस्विता भी मनुष्य का भूषण है। जिसमें तेज नहीं वह नपुंसक या कायर है। कायरता का क्षमा कोई क्षमा नहीं। शरीर में घस हा तो क्षमा भी शोभा देती है। अतएव व्यासजीने महाभारत में कहा है कि:—

कायस्त्रुषो ध्वंसि कावे नचति दाहना।

स वे लक्ष्मणाज्योति लोकेऽस्मिन्परत्र च ॥

अर्थात् समय समय के अनुसार जो मनुष्य मूढ़ और कठोर होता है—यानी भीका रखकर तेज भी दिखलाता है और क्षमा के मौके पर क्षमा भी करता है, वही मनुष्य इस लोक और परलोक में सुख पाता है। घस पड़े हुए प्रबल और दुष्ट शत्रु को क्षमा न करना चाहिए। यह पुर्याय नहीं है। व्यासजी ने क्षत्रियों का धर्म बतलाते हुए महाभारत में कहा है:—

स्वधीर्ष समाश्रित्य वा समाह्वयति वै क्वान्।

अमीतो बुध्यते क्षमन्, स वे दुस्त कल्पत ॥

अर्थात् स्वयं अपने बल पर जो शत्रु को ललकारता है, और निर्भय होकर उससे युद्ध करता है, वही वीर पुरुष है, और जो दूसरोंका आश्रय ढूँढ़ता है, अथवा दुम दबाकर भागता है, वह कायर है ।

साराश यह है कि क्षमा मनुष्यका परम धर्म अवश्य है; परन्तु सदैव क्षमा भी अच्छी नहीं होती, और न सदैव तेज ही अच्छा होता है । मौका देखकर, जब जैसा उचित हो, तब तैसा व्यवहार करना चाहिए । मान लीजिए, कोई हमारा उपकारी है, और सदैव हमारा उपकार करता रहता है । अब, ऐसे मनुष्य से यदि कभी कोई छोटा-मोटा अपराध भी हो जाय, तो क्षमा करना उचित है । माता, पिता, गुरु, राजा इत्यादि बड़े लोगोंमें यदि क्षमा न हो, तो वे अपना कर्तव्य उचित रीतिसे नहीं बजा सकते ।

छोटी-मोटी बातों पर क्रोध करके हमको अपने चित्त की शान्ति को भंग नहीं कर लेना चाहिए । विवेकसे काम लेना चाहिए । थोड़ी देर विचार करने पर हमको स्वयं शान्ति मिलेगी, और हमारा अपराधी भी कुछ विचार करेगा । बहुत सम्भव है कि, उसकी बुद्धि ठीक हो जाय, और पश्चात्तापसे वह सुधर जाय ।

मनुष्य के ऊपर बहुत से ऐसे मौके आते हैं कि, जब उसको क्षमा और सहनशीलता की परीक्षा होती है । कभी आसपास के मनुष्य ही कोई मूर्खता का काम कर बैठते हैं, कभी मित्र लोग ही रूठ जाते, कभी नौकर-चाकर लोग ही धाजा भग करते हैं, कभी कोई हमारा अपमान ही कर देता है, कभी हमारे बड़े लोग ही हमको काण्ड देते हैं, कभी दुष्ट लोग निन्दा करते

हे—भव ऐसा इशारे यदि हम बात-बात पर क्रोध करने लगे, और हमारा शान्ति और सहनशीलता से काम न लें तो क्रोध से हमारी ही हानि विशेष हागे। “रिख तन जरि होय बस-हानी।” इसलिये ऐसे मौकों पर हमारा व्यवहार धारण करना चाहिए। इस प्रकार की हमारा सबैव उपयोगी है। इसलिये ऋषि-मुनियों ने हमारा प्रशंसा की है :—

हमारा ब्रह्मसत्त्वार्थी अकारण गुरुत्वं हमारा।

हमारा बशीष्ठजिम्मेके हमारा किन्च धारणते ॥

अर्थात् हमारा क्रमबद्ध के लिये तो बस है और व्ययान् को शोभादायक है। हमसे लोगोंका वशमें कर सकते हैं। हमारा से क्या नहीं सिद्ध हो सकता ?

हमारा धर्म का एक बड़ा अंग है, और इसका धारण करना हम सबका कर्तव्य है।

३—दम

मनको इन्द्रियों के वश में न होने देनेका नाम दम है। मनुष्यके अन्दर मन इन्द्रियों का राजा है। जिस तरफ मन इन्द्रियों को खलाता है, उसी तरफ इन्द्रियाँ अपने विषयोंमें दौड़ती हैं। इस लिये जब तक मनका बुद्धि के द्वारा दमन नहीं किया जाय, तब तक इन्द्रियोंका विग्रह नहीं हो सकता। इन्द्रियोंके वश में यदि मन हो जाता है, तो इन्द्रियाँ इसको विषयोंमें फँसाकर मनुष्य का सत्यानास कर देती हैं। इच्छा मगधाम् गीतामें कहते हैं—

इन्द्रियाणां हि चरता यन्मनोज्जुषिधीयते ।

तदस्य हरति प्रज्ञा धायुर्नावमिवाम्भसि ॥

गीता, अ० २

इन्द्रिया विपर्या की ओर दौड़ती रहती हैं। ऐसी दशा में यदि मन भी इन्द्रियों के पीछे ही पीछे दौड़ता है, तो वह मनुष्य की बुद्धि को इस प्रकार नाश कर देता है, जैसे हवा नौका को पानी के अन्दर डूबा देती है। इसलिए जब कभी मन बुरी तरह से विषयों की ओर दौड़े—अपनी स्वाभाविक चंचलता को प्रकट करे, तभी उसको बुद्धि और विवेक से खींचकर उसकी जगह पर ही उसको रोक देवे। कृष्णजी कहते हैं —

यतो यतो निश्चरति मनश्चञ्चलमस्थिरम् ।

ततस्ततो नियम्यैतदात्मन्येव वषां नयेत् ॥

गीता, अ० ६

अर्थात् यह चंचल और अस्थिर मन जिधर जिधर को भागे, उधर ही उधर से इसको खींच लावे, और इसको अपने वश में रखे। मन की गति किधर को होती है? या तो यह विषयोंके सुख की ओर दौड़ेगा, अथवा किसी के प्रेम और मोह में दौड़ेगा, अथवा किसी की निन्दा-स्तुति, द्वेष या किसी को हानि पहुँचाने की ओर दौड़ेगा। जो शुद्ध मन होगा, वह ईश्वर की ओर दौड़ेगा, उसी में एकाग्र होगा। अथवा दूसरे का उपकार सोचेगा। इस प्रकार मनुष्य का मन अपनी वेगवान् गति से सदैव दौड़ा ही करता है। इसको यदि एक जगह लाकर ईश्वर में लगा देवे, तो उसी का नाम योगाभ्यास है। परन्तु मन का रोकना बहुत कठिन है। इस विषय में परम भगवद्भक्त वीरवर अर्जुनने भगवान् कृष्ण से कहा था —

बन्धकं हि मया कुप्य प्रमादि कल्पयिष्यम् ।
 जन्माहं विपद् मन्वे वाधोरिव ह्युप्यम् ॥

गीता अ० ६

हे कृप्य, यह मन बड़ा बन्धक है। इन्द्रियों को विषयों की भाव से लींघता नहीं है, बल्कि भीर बन्धेछता है। बाहे जितना विवेक से काम छो फिर भी इसको जीतना कठिन है। विषयबाधनाओं में बड़ा दुःख है। इसका निम्न करना तो ऐसा कठिन है कि जैसे हवा की गठरी बांधना। इस पर भगवान् कृप्य ने कहा —

असंख्यं महाबाहो मनो दुर्निश्चयं कल्पम् ।
 अस्मादेव तु कौन्तेय वैराग्येण च गृह्यते ॥

गीता अ० ६

हे भीरवर अहम् इसमें समीह नहीं यह मन अत्यन्त बन्धक है। भीर इसका रोकना बहुत कठिन है, फिर भी हो उपाय ऐसे हैं कि जिनसे यह बन्ध में किया जा सकता है, भीर के उपाय हैं—अभ्यास और वैराग्य। अभ्यास—अर्थात् बार बार और बराबर मन की हरकतों पर यदि हम ध्यान रखें और उसको अपने बन्ध में छाने का प्रयत्न जारी रखें तो ऐसा नहीं कि वह बन्ध में न हो जायै और वैराग्य—अर्थात् संसार के जितने विषय हैं उनका उचित रूप से धर्म से सेवन करें—सेवन करें और फँसें नहीं। इनके पीछे पागल न हो जायें—अपनी आत्मा और संसार को हानि न पहुँचायें। बल्कि अपनी आत्मा और संसार के कल्याण का ध्यान रखते हुए—इन्द्रियों और मन की बन्ध में रखते हुए—यदि हम संसार के कर्तव्यों का पालन करें, और धर्मपूर्वक विषयों का सेवन करें, तो वह भी वैराग्य ही है। इस प्रकार की चित्तवृत्ति का अभ्यास करने से मन बन्ध में हो

जाता है, और प्रसन्नता प्राप्त होती है। यही बात कृष्ण भगवान् गीता में कहते हैं :—

रागद्वेषवियुक्तैस्तु विषयानिन्द्रियैश्चरन् ।
आत्मवश्यैर्विधेयात्मा प्रसादमधिगच्छति ॥

गीता, २—६४

जो विषयों से प्रेम और द्वेष छोड़ देता है—अर्थात् उनमें फँसता नहीं है, धर्मपूर्वक विषयों का सेवन करता है—जिसका मन वश में है, इन्द्रियां वश में है, वह प्रसन्नता प्राप्त करता है। उसको विषयों का सुखदुख नहीं मालूम होता। मन परमात्मा और धर्म में लीन रहता है। ऐसे पुरुष को कभी क्लेश नहीं होता। क्लेश में भी वह अपने मन का दमन करके सुख ही मानता है। न उसको अपने ऊपर द्वेष या क्रोध होता है, और न दूसरे के ऊपर।

दान्त शमपर शश्वद् परिक्लेशं न वन्दति ।

न च तप्यति दान्तात्मा दृष्ट्वा परगता श्रियम् ॥

महाभारत, वनपर्व ।

जो सदैव मन और इन्द्रियों को वश में रखकर शान्त और दान्त रहता है, वह दुख का अनुभव नहीं करता। जिसने अपने मन का दमन कर लिया है, वह दूसरे के सुख को देख कर कभी जलता नहीं। सुखी होता है।

कई लोगों का मत है कि, मन को दायना कभी नहीं चाहिए। किन्तु मन जो माँगता जावे, वही उसको देते रहना चाहिए। इस प्रकार जब मन खूब विषय-उपभोग करके तृप्त हो जायगा, तब आप ही आप उसका दमन हो जायगा। परन्तु भगवान् मनु कहते हैं कि—

व जलु कामः कामावामुस्मोगेव शास्वति ।

इदिवा कृष्णकर्मैव भूव व्वाग्निवर्षते ॥

मनुष्यसि म २

विषयों के भोग की इच्छा विषयों के भाग से कमी शास्त्र नहीं हो सफली, किन्तु भीर भो पकती ही जाती है—जैसे भाग में या डाढ़ने से भाग भीर बढ़ती है। इस लिए विषयक सं मन का समन करने से इन्द्रियाँ भाप हो भाप विषयों से बिँच जाती हैं। जैसे जपुमा अपने सब बगों का समर सिकोड़ लेता है वैसे ही इन्द्रियाँ अपने का विषयों से समेट करके मन के साथ आत्मा में भीतर संलग्न हो जाती हैं। जब मनुष्य की ऐसी इच्छा हो जाती है तब विषयों से विरक्त मन को आत्मा में स्थिर करके वह मोक्ष प्राप्त करता है। इसीलिए कहते हैं कि—

मन एव मनुष्यायं कारणं कल्पमाप्सरोः ।

वन्वाय विन्वाक्ये सुयो विन्विचं मनः ॥

मन ही मनुष्य के कल्प और मोक्ष का कारण है, क्योंकि विषयों में कौसा हुआ मन कल्पन में है, और विषयों से मुक्त हुआ मुक्त है। ज्ञानी भोग विषयों से मन को मुड़ाकर इसी जन्म में मुक्ति का अनुभव करते हैं।

साक्षात् यह है कि, मन की वासना जो सब बुरे भीर भले भागों की ओर बढ़ा करती है उसको बुरे भागों की ओर से हटाकर सबैव कस्याप्य-भाग की ओर उगाते रहता चाहिए। यही मन का समन है। महाभारत में इतका फल इस प्रकार कहा है —

दमस्तेजो वर्धयति पवित्रं दममुत्तमम् ।

विपाप्मा वृद्धतेजास्तु पुण्यो विन्दते महत् ॥

महाभारत

मन का दमन करने से तेज बढ़ता है । यह मनोदमन का गुण मनुष्य में परम पवित्र और उत्तम है । इससे पाप नष्ट होता है, और मनुष्य तेजस्वी होकर परमात्मा को प्राप्त करता है ।

४—अस्तेय

दूसरे की वस्तु अपहरण न करके, धर्म के साथ अपनी जीविका करने को अस्तेय कहते हैं । मनु महाराज ने धर्मपूर्वक धन कमाने के निम्नलिखित दस साधन बतलाये हैं —

विद्या शिल्प ऋति सेवा गोरक्ष्य विपणि कृपि ।

घृतिभैक्ष्य कुसीढ घ दश जीवनहेतव ॥

अर्थात् १—अध्ययन-अव्यापन का कार्य करना, २—शिल्पविज्ञान-कारीगरी, ३—किसी के घर नौकरी करना, ४—किसी सस्था की सेवा करना, ५—गोरक्षा पशुपालन, ६—देशविदेश घूमकर अथवा एक स्थान में दूकान रखकर व्यापार करना, ७—कृपि करना, ८—सन्तोष धारण करके जो मिल जाय, उसी पर गुजारा करना, ९—भिक्षा मागना, १०—व्याज-साहकारा इत्यादि, ये दस वाते जीविका की हेतु हैं ।

अपने अपने वर्ण-धर्म के अनुसार इन्हीं व्यवसायों में से कोई व्यवसाय मनुष्य को चुन लेना चाहिए । व्यवसाय कोई भी हो, ईमानदारी और सच्चाई के साथ करना चाहिए । दूसरे का धन वैदमानी या चोरी से हरण करने का प्रयत्न न करना चाहिए ।

ईमावात्समिहं सर्वे बलिष्ठं अहर्षा जगत् ।

तेन त्वस्तन मुञ्जीया मा गृहः बन्धस्त्रिद्वन्द्वम् ।

— [प्रोपनिषत्

मयात् यह सम्पूर्ण व्यापार-अंगम अगत् परमात्मा से व्याप्त है —
 ऐसी कोई वस्तु नहीं जिसमें यह न हो, इसलिये उसमें
 डरो । ईमानदारी के साथ सच्चाई से जितना मिले, उतनी का
 भोग करो । किसी का धन सम्पाय से लेना का सासब मत करो
 महर्षि व्यासजी ने कहा है —

वेर्णा धर्मो न ते वृत्ता वेअर्मेन किञ्चु तान् ।

धर्म वे धारण्यं कोके न व्याहृत्यधर्मज्ञया ॥

महाभारत, शान्तिपर्व ।

मयात् जो धन धर्म से पैदा किया जाता है, वही सच्चा धन है,
 अधर्म से पैदा किये हुए धन को धिक्कार है । धन सर्वत्र रहने
 की बीज नहीं है, और धर्म सर्वत्र रहता है । इस लिये धन
 क लिये धर्म कमी न छोड़ो ।

धर्म की अवहेलना करके जो भोग खोरी, घूस भयबा
 व्यापार इत्यादि में मिथ्याचार या धूर्तता का व्यवहार करके धन
 जोड़ते हैं उनको उध धन से कुछ कदापि नहीं मिलता । सम्पाय
 से बहुत सा जोड़ा हुआ उनका धन दुर्घ्नसर्जों में कर्ब होता है
 इससे उनका शरीर मिट्टी हो जाता है, और ऐसे बीज धनवाह
 लोग लोक परलोक दोनों बिगाड़ते हैं । महावाह श्लोकप्यबन्ध
 जीमि गीता में ऐसे अधर्मों का बरतना वर्जित किया है —

आज्ञावाक्यस्तेषां कामधोक्त्वाक्याः ।

इहमे कामयोगार्थसन्धारेवाज्जैतन्वात् ॥

जन्मद्विचविजाल्या मोहदाहक्यमाहृताः ।

प्रसज्याः कामयोगे क्वन्ति वरकैः सुधीः ॥

अर्थान् मकड़ों आशाओं को फाँसियों में बँधे हुए, कामक्रोध में तन्पर, विषय-सुग के लिए अन्याय से धन संचय करने की चेष्टा करते हैं। चित्त चञ्चल होने के कारण भ्राति में पड़े रहते हैं। मोहजाल में लिपटे रहते हैं। काम-भोगों में फँसे रहते हैं। ऐसे दुष्ट बड़े बुरे नरक में पड़ते हैं।

इसके सिवाय जो धन अधर्म से इकट्ठा किया जाता है, वह बहुत समय तक ठहरता भी नहीं—जैसा आता है, वैसा ही चला जाता है। चाणक्य मुनि ने तो कहा है कि—

अन्यायोपार्जितं द्रव्यं दशवर्षाणि तिष्ठति ।

प्राप्ते चकादशे वर्षे समूलम् च विनश्यति ॥

चाणक्यनोति

अर्थान् अधर्म और अन्याय से जो द्रव्य उपार्जन किया जाता है, वह सिर्फ दस वर्ष ठहरता है, और ग्यागहवें वर्ष जडमूल से नाश हो जाता है। चाहे चोरी हो जाय, चाहे आग लग जाय, चाहे स्वयं वह अधर्मों नाना प्रकार के दुराचारों में ही उसको खर्च कर दे, पर वह रहता नहीं, और न ऐसे धन से उसको सुख ही होता है। इसलिए अपने बाहुबल से, धर्म के साथ उद्योग करते हुए, जीविका के लिए धन कमाना चाहिए। उद्योगी पुरुष के लिए धन की कमी नहीं। राजर्षि भर्तृहरि कहते हैं —

उद्योगिन पुरुषसिंहमुपैति लक्ष्मी ।

दैव प्रधानमिति कापुरुषा वदन्ति ॥

दैवं विहाय कुरु पौरुषमात्मशक्त्या ।

यत्नेकृते यदि न सिध्यति कोऽप्रदोष ॥

अर्थात् जो पुरुष उद्योगी है, अपने बाहुबल का भरोसा कर के सतत परिश्रम करते रहते हैं, उन्हीं के गले में लक्ष्मी जयमाल

पहनाती है, और जो लोग कायर भाव रखती हैं वे भाग्य का भरोसा किये बैठे रहते हैं। इस लिए भाग्य का भरोसा छोड़ कर शक्ति भर लूब पौरुष करो। यज्ञ करो। यज्ञ करने पर यदि सफलता प्राप्त न हो तो फिर यज्ञ करो। बेबो कि, हमारे यज्ञ में कहां दोष रह गया है। उस दोष को खोज निकाल कर उस निर्दोष यज्ञ करोगे तब सफलता अवश्य मिलेगी। नीचे लिखे हुए गुण जिस उद्योगी मनुष्यमें होते हैं उसके पास धन की कमी नहीं रहती —

उत्साहसम्पन्नमरीचंक्षुर्न ।

विवाविचित्रं स्वसनेष्वसक्यम् ॥

यत् कुर्वत इदमोदरं च ।

कस्मीः स्वयं वासि विवासेतोः ॥

जिस पुरुष में उत्साह भरा हुआ है, जो भाग की बात ताड़ कर बराबर बहसा से उद्योग करता रहता है, कार्य करने की कतुरता जिसमें है, जो व्यसनों में नहीं फँसा है, जो शूर वीर और आरोग्य-शरीर है, जो किये हुए उपकार को मानता है, जिसका हृदय दृढ़ है, और दूसरे के साथ सहृदयता का वर्तन करता है, ऐसे पुरुष के पास कस्मी स्वयं निवास करने को आती है।

इसलिए बराबर उद्योग करते रहना चाहिये। परन्तु एक जगह बैठे रहने से भी मनुष्य धन नहीं कमा सकता। मोति में क्या हुआ है —

विवा विच विचित्रं वाक्याप्योति भावना सम्पन् ।

वाक्यमप्यति च धूमो रघादेस्तान्तरं इव ॥

अर्थात् विवा विचित्रं वाक्याप्योति इत्यादि जीविका-सम्पन्ना

वार्ते मनुष्य को तब तक भली भाँति नहीं प्राप्त हो सकती, जब तक कि वह पृथ्वी-पर्यटन न करे, और आनन्दपूर्वक देशदेशान्तर का भ्रमण न करे। जापान, अमेरिका, जर्मनी, इङ्ग्लैंड इत्यादि जितने उन्नत देश हैं, उनके होनहार नवयुवक विद्यार्थी जब एक दूसरे के देशों में जाकर शिल्प, कलाकौशल, विज्ञान, कृषि इत्यादि की विद्या सीखकर आये हैं तब उन्होंने अपने देश को उन्नत किया है, और स्वयं भी उन्नत हुए हैं। हमारे देश के नवयुवक और व्यवसायी लोग कूप-मङ्क की तरह इसी देश में पड़े रहते हैं, और विदेशियों की दलाली करने में ही अपने व्यवसाय की इतिश्री समझते हैं। इसी से हमारे देश का सारा व्यवसाय विदेशियों के हाथ में चला गया है, और हम दिन पर दिन दरिद्र हो रहे हैं। इस लिए हमारे धनवान् नवयुवकों को उचित है कि, वे उपर्युक्त उन्नत देशों में जाकर व्यापार-व्यवसाय का तरीका सीखें; और फिर अपने देश में आकर स्वदेशी व्यापार और कल-कारखाने चलावें, जिससे देश की सम्पत्ति देश में ही रहे; और हमारे देश के श्रमो लोगों को मिहनत-मजदूरी तथा उद्योग-धन्धा मिले।

धन की मनुष्य के लिए बड़ी आवश्यकता है। बिना धन कमाये न स्वार्थ होता है, और न परमार्थ। आजकल तो धन की इतनी महिमा है कि भर्तृहरि महाराज के शब्दों में यही कहना पड़ता है कि —

यस्यास्ति वित्तं स नर कुलीन ।

स पंडित स श्रुतवान् गुणज्ञ ॥

स एव धक्ता स च दर्शनीय ।

सर्वे गुणा काश्चनमाश्रयन्ति ॥

पढ़नाती है, और जो लोग कायर भावधारी हैं वे भाग्य का मरोसा किये बैठे रहते हैं। इस लिये भाग्य का मरोसा छोड़ कर शक्ति भर खूब पौल्य करो। यत्न करो। यत्न करने पर यदि सफलता प्राप्त न हो तो फिर यत्न करो। देखो कि, हमारे यत्न में कहां शोष रह गया है। उस शोष को खोख निकाल कर अब निर्दोष यत्न करोगे तब सफलता अवश्य मिलेगी। नीचे छिले हुए गुण जिस उद्योगी मनुष्यमें होते हैं उसके पास धन की कमी नहीं रहती —

उत्साहसम्पन्नमदीर्घसूत्रं ।

विवाविचित्रं व्यसनेष्वसह्यम् ॥

एवं कृत्वां वृत्तौद्धवं च ।

कस्मीः स्वयं वासि विवास्तोः ॥

जिस पुरुष में उत्साह भरा हुआ है जो भागे की बात ताड़ कर बराबर बसता से उद्योग करता रहता है, कार्य करने की समुत्था जिसमें है, जो व्यसनों में नहीं फँसा है, जो शूर वीर और भारोम्य शरीर है जो किसी हुए उपकार को मानता है, जिसका हृदय दृढ़ है, और दूसरे के साथ सहृदयता का वर्ताप करता है, ऐसे पुरुष के पास कस्मी स्वयं निवास करने को माती है।

इसलिये बराबर उद्योग करते रहना चाहिये। परन्तु एक जगह बैठे रहने से भी मनुष्य धन नहीं कमा सकता। मोति में कहा हुआ है —

विवा विच विचित्रं वाक्याप्योति मावका सम्पद् ।

वाचद्वयवति च धूमो इत्यैवान्तरं इत्यम् ॥

अर्थात् विद्या द्रव्य, कलाकौशल इत्यादि जीविका-सम्बन्धी

अर्थात् बुरे रास्ते में यदि एक कौड़ी भी जानी हो तो उसे हजार मुहरों की तरह बचा लो और मौका लगने पर—किसी अच्छे काम में करोड़ों अर्शफिया भी मुक्तहस्न होकर खर्च कर लो। जो उद्योगी पुरुष ऐसा करता है—अर्थात् धर्म से कमाया हुआ धन धर्म ही में खर्च करता है, उसको लक्ष्मी कभी नहीं छोड़ती। परन्तु जो मनुष्य अपनी आमदनी का खयाल न करके व्यर्थ में बहुत सा धन व्यय किया करने है, वे सदैव दुखी रहते हैं। क्योंकि—

क्षिप्रमायमनालोच्य व्ययमान म्बत्राच्या ।

परिक्षीयत पत्रामौ धनी वैश्रवणोपन ॥

आमदनी का विचार न करके यदि स्वच्छन्दता-पूर्वक खर्च करते रहें, तो कुवेर के समान धनी भी निर्धन दर्जिदा बन जायेंगे।

इसलिए प्रत्येक मनुष्य का कर्त्तव्य है कि, अपने अनुकूल उचित जीविका को ग्रहण करके, अपने पुरुषार्थ और बाह्यजगत् से, धर्म के साथ, धन कमावे, परस्त्री और परधन को हरण करने की कभी इच्छा न करे।

मातृवत् परदारेषु परद्रव्येषु लोष्टवत् ।

आत्मवत् सर्वभूतेषु य पश्यति मर्षद्वित ॥

जो दूसरे की स्त्री को माता के तुल्य और दूसरे के धन को मिट्टी के ढेले के तुल्य देखता है, और सब प्राणियों का दुःख-सुख अपने ही दुःख-सुख के समान देखता है वही सच्चा प्रियेकी पुरुष है।

जिसके पास धन है वही मनुष्य कुञ्जील है, वही पंडित है, वही मनुमथी है वही गुण्य है वही बला है वही वर्गनीय सुन्दर है, सब गुण एक कांक्षन में ही बसते हैं। भाँगे जिसके पास धन नहीं है -

माता भिक्षुति नामिच्छन्ति पिता भ्राता न सम्भाषत ।

पुत्रो कुम्पति बाहुगच्छति छत्रा बान्धा न वाञ्छिते ॥

अन्धकारवशात्कथा न कुर्वते सम्भाषणं वे बहवः ।

जन्माह प्रपशुपारंभ ननु क्व प्रनेन सर्वे बलाः ॥

उसको माता गाड़ियाँ दिया करती है पिता उसको देखकर प्रसन्न नहीं होता भाई छोप बात नहीं करते, नौकर लोग भयग ही मुँह बताये रहते हैं सड़के उसका कदमा नहीं यामने, स्त्री भयग करती रहती है मित्र लोग यदि मार्ग में सामने पड़ जाते हैं, तो उस शंका से मुँह फेर डिते हैं कि, कहीं कुछ मांग न पीठे—छीपे बात नहीं करते। इसलिये मित्रो सुनो धन ब्राम्हो। क्योंकि धन के ही ध्य में सब है।

धन ब्राम्हो तो सही, पर उसका उपभोग भी ब्राम्हो। क्योंकि यदि ब्राम्हो, भीर उसका उचित विविधोग न किया तो व्यर्थ है। संसार में प्रायः बहुत लोग ऐसे ही हैं, कि जो धन ब्राम्हो या तो उसे संचित ही रखते हैं, अथवा फिरुडकहीं में उड़ा देते हैं। दोनों बातें बराबर हैं। धन को मौका देकर न्यूनार्थिक कर्ष करना चाहिए। नीति में कहा है :-

यः काङ्क्षितोन्मत्तव्यस्य ।

समुद्रान्निष्कसहस्रमुत्पाद्य ॥

काङ्क्षुकोटिन्वपि ह्युत्पद्यते ।

तं राक्षसिहं न उदासि क्वयतीः ॥

अर्थात् बुरे रास्ते में यदि एक कौड़ी भी जाती हो तो उसे हजार मुहरों की तरह बचा लो, और मौका लगने पर—किसी अच्छे काम में करोड़ों अशर्फिया भी मुक्तहस्त होकर खर्च कर लो। जो उद्योगी पुरुष ऐसा करता है—अर्थात् धर्म से कमाया हुआ धन धर्म ही में खर्च करता है, उसको लक्ष्मी कभी नहीं छोड़ती। परन्तु जो मनुष्य अपनी आमदनी का खयाल न करके व्यर्थ में बहुत सा धन व्यय किया करते हैं, वे सदैव दुखी रहते हैं। क्योंकि—

क्षिप्रमायमनालोच्य व्ययमान स्ववाच्या ।

परिक्षीयत एवासौ धनी वैश्रवणोपम ॥

आमदनी का विचार न करके यदि स्वच्छन्दता-पूर्वक खर्च करते रहें, तो कुवेर के समान धनी भी निर्धन दरिद्री बन जायेंगे।

इसलिए प्रत्येक मनुष्य का कर्त्तव्य है कि, अपने अनुकूल उचित जीविका को ग्रहण करके, अपने पुरुषार्थ और बाहुबल से, धर्म के साथ, धन कमावे, परस्त्री और परधन को हरण करने की कभी इच्छा न करे।

मातृवत् परदारेषु परद्वेषु लोष्टवत् ।

आत्मवत् सर्वभूतेषु य पश्यतिसंपंडित ॥

जो दूसरे की स्त्री को माता के तुल्य और दूसरे के धन को मिट्टी के ढेले के तुल्य देखता है, और सब प्राणियों का दुख-सुख अपने ही दुख-सुख के समान देखता है वही सच्चा विवेकी पुरुष है।



५-शौच

शौच का अर्थ है शुद्धता। शुद्धता दो प्रकार की है। एक बाह्य की शुद्धता। दूसरी भीतर की शुद्धता। बाह्य की शुद्धता में शरीर, वस्त्र, स्याम इत्यादि की शुद्धता आती है, भीतर भीतर की शुद्धता में मन या आत्मा की शुद्धता आती है। मनु महाराज ने एक श्लोक में बाहरी-भीतरी शुद्धता के साधन, धोड़े में बहुत अच्छी तरह बतला दिये हैं। वह श्लोक इस प्रकार है —

अस्त्रिर्गन्धानि कुप्यन्ति नवाः सत्येन कुप्यन्ति ।

विद्याधरोष्वा मृगात्मा तृदिबन्धि कुप्यन्ति ॥

॥

अर्थात् शरीर वस्त्र, स्याम इत्यादि बाहरी चीजें पानी मिट्टी (या साबुन गोबर) इत्यादि से शुद्ध हो जाती हैं। मन सत्य से शुद्ध होता है। विद्या और तप से आत्मा शुद्ध होती है, भीतर बुद्धि बान से शुद्ध होती है।

मनुष्य को चाहिये कि वह नित्य नुहा-बातुन करके मुँह को और शुद्ध कण्ठ गण्ड से स्नान करके अपने सब चीजों को साफ रखे। शरीर की सजीवता से नाना प्रकार के रोग उत्पन्न हो जाते हैं। कपड़ा साफ पहनना चाहिये। मोटे कपड़े से शरीर की सब अङ्गुओं में रक्षा होती है। जहाँ तक हो सके, कम वस्त्र पहना, भीतर सफेद रंग का ही कपड़ा पहनो। सफेद रंग का कपड़ा पहनने से मैला होने पर वह तुरन्त ही मासूम हो जाता है, और उसे साफ करके धो सकते हैं, पर रंगीन कपड़ा जिसको "मैलपारा" कहते हैं कभी मत पहनो। कई लोग कपड़ा मिला न ही इसी कारण रङ्गीन पहनते हैं, पर वह

चाल अच्छी नहीं। रङ्गीन कपड़े में मैल खपता रहता है, और फिर वही शरीर के लिए हानिकारक होता है।

शरीर और वस्त्रों की सफाई इस विचार से न रखो कि, तुम देखने में सुन्दर लगे, पर इस विचार से रखो कि, तुम्हारा स्वास्थ्य अच्छा रहे, और तुम्हारा चित्त प्रफुल्लित रहे। क्योंकि शरीर और कपड़े साफ रहने से दूसरे पर चाहे जो क्योंकि शरीर और कपड़े साफ रहने से दूसरे पर चाहे जो असर पड़ता हो, अपने चित्त को ही प्रसन्न होती है। मन में उत्साह बढ़ता है, जिससे मनुष्य के सत्कार्यों में उसको सफलता मिलती है।

यही बात स्थान की सफाई के विषय में भी कही जा सकती है। जगह चाहे थोड़ी ही हो, लेकिन साफ-सुथरी और हवादार हो। अपने अपने स्थान की चीजें ठीक तौर से, जहाँ की तहाँ, सफाई के साथ, रखो हुई हों। इस बाहर की सफाई का शरीर की आरोग्यता और चित्त की प्रसन्नता पर बड़ा अच्छा असर पड़ता है, और ये दो बातें ऐसी हैं कि जिनका मनुष्य के वर्म से बड़ा गहरा सम्बन्ध है।

एक और सफाई का मनुष्य को ध्यान रखना चाहिए; और वह सफाई है—पेट के अन्दर की मलशुद्धि। प्रायः देखा जाता है कि, लोग अपने बालकों को प्रातः काल शौच जाने की आदत नहीं डलवाते। लड़के उठते ही खाने को मागते हैं, और मूर्ख माताएँ, बिना शौच और मुख-माजन के ही, लाड़-प्यार के कारण, उनको कलेऊ खाने को दे देती हैं। पेट का मल साफ न होने के कारण रक्त दूषित हो जाता है, और शरीर रोग का घर बन जाता है। इस लिए प्रातः काल शौच जाने की आदत जरूर डालना चाहिए, और इस बात का ध्यान रखना

बाह्य कि, जो कुछ मोहन किया जाता है, वह पक्कर उसका मस रोज़ का रोज़, नियमानुसार निकलता रहता है, या नहीं।

ये तो ज़रूरी शौच की बातें हुईं। अब हम भीतरी शुद्धता के विषय में कुछ सिरेंगे। वास्तव में भीतरी शुद्धता पर ही मनुष्य का जीवन बहुत कुछ अवलम्बित है। क्योंकि उसका सम्बन्ध मन बुद्धि और आत्मा की पवित्रता से है। जब तक मनुष्य का मन बुद्धि और आत्मा पवित्र नहीं हैं, तब तक बाहरी शुद्धि का सम्बन्ध तो बिरीय कर शरीर से ही है। और शरीर भी केवल बाहरी शुद्धि से उतना लाभ नहीं उठा सकता जबतक मन बुद्धि और आत्मा पवित्र न हो।

मन की शुद्धि का साधन महर्षि मनु ने 'सत्य' कहाया है। जो मनुष्य सत्य ही बात मन में सोचता है, सत्य ही बात मुख से निकालता है, और सत्य ही कार्य करता है, उसका मन शुद्ध रहता है। वास्तव में मन ही मनुष्य के कर्म और मोक्ष का कारण है। क्योंकि सृष्टि में कहा है कि—

कर्मणो जायते ध्याता सति ।

ध्याता सति कर्मणा करोति ।

कर्मण्य करोति जमिन्नम्यत ।

अर्थात् मनुष्य जिस बात का मन से ध्यान करता है, उसी को वाचा से कहता है, और जिसका वाचा से कहता है, वही कर्म से करता है, और वैसे कर्म करता है, वैसे ही फल मिलता है। इस लिए सत्य का ही ध्यान करना बाह्य, जिससे मन, ज्ञान और कर्म पवित्र हो।

जैसे मनुष्य का मन सत्य से शुद्ध होता है, वैसे ही उसकी आत्मा विद्या और तप से शुद्ध होती है। आत्मा कहते हैं, जीव

को । जब मनुष्य विद्या का अध्ययन करता है , और तप करता है—अर्थात् सत्कर्मों के लिए कष्ट सहता है, तब उसका जीव या आत्मा पवित्र हो जाती है । उसके सब सशय दूर हो जाते हैं ।

आत्मा की शुद्धि के साथ बुद्धि भी शुद्ध होनी चाहिए । सो बुद्धि ज्ञान से शुद्ध होती है । क्योंकि ज्ञान के समान इस ससार के और कोई वस्तु पवित्र नहीं हैं । गीता में भगवान् श्रीकृष्णने ज्ञान की महिमा वर्णन करते हुए कहा है —

श्रद्धावान् लभते ज्ञानं तत्पर सयतेन्द्रिय ।

ज्ञान लब्ध्वा परां शान्तिमचिरेणाधिगच्छति ॥

गीता

अर्थात् ज्ञान (जीव, सृष्टि और परमात्मा का ज्ञान) उसी को प्राप्त होता है, जो श्रद्धावान् होता है, ज्ञान में मन लगाता है ; और इन्द्रियों का सयम करता है । और जहाँ एक बार मनुष्य ने ज्ञान प्राप्त कर लिया, कि फिर वह परम शान्ति को पाता है । परम शान्ति के प्राप्त होने पर मनुष्य की बुद्धि पवित्र होकर स्थिर हो जाती है । उस दशा में कोई बुरी बात मनुष्य के मन में आती ही नहीं । जो जो कार्य उसके द्वारा होते हैं, सब ससार के लिए हितकारी होते हैं ।

जैसा कि हमने ऊपर बतलाया, मनुष्य को अपना शरीर, मन, आत्मा, बुद्धि, इत्यादि पवित्र रखते हुए भीतर-बाहर शुद्ध रहने का बराबर प्रयत्न करते रहना चाहिए । शुभ गुणों की वृद्धि और अशुभ गुणों का त्याग करने से मनुष्य भीतर-बाहर शुद्ध हो जाता है और लोक-परलोक दोनों में उसको सुख मिलता है ।

६-इन्द्रिय-निग्रह

मनुष्यके शरीरमें पञ्चात्मामें दस इन्द्रियां ही हैं। पांच ज्ञानेन्द्रियां हैं, और पांच कर्मेन्द्रियां। पांच ज्ञानेन्द्रियां ये हैं — (१) आंख, (२) कान (३) नाक, (४) रसना अर्थात् जिह्वा (५) त्वचा अर्थात् त्वचा। इन पांचों इन्द्रियोंसे हम विषयोंका ज्ञान प्राप्त करते हैं—जैसे आंखसे मखा-पुपुष्य रूप देखना कामसे कोमल-कठोर शब्द सुनना नाकसे सुगन्ध दुर्गन्ध सूंघना रसनासे स्वाद कसता त्वचासे कठोर अथवा मुलायम चीजका स्पर्श करना प्रत्येक ज्ञानेन्द्रियका एक एक सहायक शक्ति भी है। इसी दृष्टतासे दस इन्द्रियके विषयकी उत्पत्ति होती है जैसे आंखका विषय रूप है यह अग्नि अथवा सूर्यका गुण है। सूर्य वा अग्नि यदि न हो तो हमारी आंख-इन्द्रिय बिल्कुल बेकाम है। इसी प्रकार कानका विषय शब्द है। यह आकाशका गुण है। आकाश ही के कारण शब्द उठता है। नाकका विषय गन्ध है। गन्ध पृथ्वीका गुण है। जीमका विषय रस है, जो जलका गुण है, और त्वचा का विषय स्पर्श है। यह वायुका गुण है। ये पांच ज्ञानेन्द्रियां और उनके विषय प्रदान हैं। अब पांच कर्मेन्द्रियोंको छीजिए—

(१) बाणी, (२) हाथ, (३) पैर, (४) लिंग, और (५) गुदा। बाणी से हम बोलते हैं। यह भा जिह्वा ही है। जिह्वा में पञ्चात्मा में ज्ञानेन्द्रिय और कर्मेन्द्रिय दोनों की शक्ति ही है। स्वाद भी चखते हैं, और चोखते भी हैं। हाथ से कार्य करते हैं। पैर से चढ़ते हैं। लिंग से मूत्र छोड़ते हैं। और गुदा से मल निकारते हैं।

ज्ञान-इन्द्रियां ईश्वर में हमारे शरीर में ऊपर की ओर

बनाई हैं, और कर्मेन्द्रिया नीचे की ओर—इससे ईश्वर ने ज्ञान को प्रधानता दी है, और हमको बतलाया है कि, ज्ञान के अनुसार ही कर्म करो। अस्तु। हमारी आत्मा मन को संचालित करके इन्द्रियों के द्वारा सब विषयों का भोग भोगती है। उपनिषदों में इसका बहुत ही अच्छा रूपक वाधा गया है।

आत्मानं रथिन विद्धि शरीर रथमेव तु।

बुद्धि तु सारथि विद्धि मन प्रग्रहमेव च ॥

इन्द्रियाणि हयानाहुर्विषयास्तेषु गोचरान्।

आत्मेन्द्रियमनोयुक्त भोक्तेत्याहुर्मनोपिण ॥

कठोपनिषद्

यह शरीर एक रथ है, जिसका रथी, अर्थात् इस पर आरूढ़ होनेवाला, इसका स्वामी, जीवात्मा है। जीवात्मा इस शरीर-रूपी रथ पर बैठ कर मोक्ष को प्राप्त करना चाहता है। अब, रथ में घोड़े चाहिए। सो दसों इन्द्रिया इस रथ के घोड़े हैं। अब घोड़ों में वागडोर चाहिए, सो मन ही इन घोड़ों की वागडोर है। रथ होगया, रथी होगया, घोड़े हो गये, घोड़ों की वागडोर होगई, अब उस वागडोर को पकड़कर घोड़ों को अपने वश में रखते हुए रथ को ठीक स्थान में, परमात्मा या मुक्ति की ओर, ले जानेवाला सारथी चाहिए। यह सारथी बुद्धि या विवेक है। अब इन्द्रियरूपी घोड़ों के चलने का मार्ग चाहिए। यह मार्ग इन्द्रियों के विषय हैं, क्योंकि विषयों की ही ओर इन्द्रिया दौड़ती हैं। इस लिए जो ज्ञानी पुरुष हैं, वे बुद्धि या विवेक के द्वारा इन्द्रियों की वागडोर मन को बड़ी दृढ़ता से अपने हाथ में पकड़कर, उनको उनके विषयों के रास्ते में इस ढङ्ग से ले चलते हैं, कि जिससे वे सुखपूर्वक ईश्वर के समीप पहुँचकर मुक्ति की प्राप्ति करते हैं।

इन्द्रिय निग्रह का सिर्फ इतना ही मतसब है कि, इन्द्रियों की तरह से अपने-अपने विषयों की ओर न मगने पायें। जिसकी जिस विषय की भावश्यकता है, उतना ही उस विषय को ग्रहण करें। विषयों में कुरी तरह से फँसकर—बेतहाशा विषयों के मार्ग में भगकर इस शरीररूपी रथ को ठोड़-फोड़ कर नष्ट न कर डालें। यदि इन्द्रियाँ इस प्रकार कुमार्गी पर भगेंगी तो रथ रथी सारथी बाण्डोर इत्यादि सब नष्टनष्ट हो जायेंगी। इसलिये बुद्धि या विवेक कृपी सारथी को सर्वत्र सचेत रखो। वही इन इन्द्रियरूपी बघों घोड़ों का निग्रह कर सकता है।

कई लोग इन्द्रिय निग्रह का उपयुक्त सख्खा अर्थ न समझ कर इन्द्रियाँ को ही मारने की कोशिश करते हैं। परन्तु इन्द्रियों का तो न्यमात्र ही है कि वे अपने-अपने विषयों की ओर झँकती हैं। जब तक इस शरीरमें मात्मा मन और इन्द्रियाँ हैं, तब तक विषय उनसे छूट नहीं सकते। बाकी निग्रह कुछ काम नहीं कर सकता। जो केवल निग्रह से ही काम लेना चाहते हैं—विवेक या बुद्धि का उससे साय नहीं रखते हैं, उनका मन विषयों से नहीं छूटता है। मन तो उनका विषयों की ओर झँकता ही है, परन्तु केवल इन्द्रियों को वे बघाता चाहते हैं। ऐसे लोगों को भगवान् कृष्ण ने पीता में पालकी कहसाया है —

कर्मिन्द्रियानि संपन्न न भ्रास्ते मनसा स्मरन् ।

इन्द्रियाधीन् विदुस्तप्ता मिथ्याचारः च वञ्चते ॥

गीतारम्यबलीता

जो मुर्ख ऊपर ऊपर से कर्मिन्द्रियों का संयम करके मन से विन

रात विषयों का चिन्तन किया करता है, वह पाखण्डी है। इस लिए विवेक से मन का ही दमन करना चाहिए। ऐसा करने से इन्द्रिया विषयों में नहीं फसती। भगवान् मनु ने स्पष्ट कहा है —

वदो हृत्वेन्द्रियग्रामं संयम्य च मनस्तथा ।

सर्वान् संसाधयेदर्धानाक्षिण्वन् योगतस्तनुम् ॥

मनु०

अर्थात् पाच ज्ञानेन्द्रिय और पाच कर्मेन्द्रिय और ग्यारहवें मन को भी वश में करके इस प्रकार से युक्ति के साथ धर्म-अर्थ-काम-मोक्ष का साधन करे कि जिससे शरीर भी क्षाण न होने पावे। व्यर्थ में शरीर को कष्ट देनेसे इन्द्रियों का निग्रह नहीं हो सकता। यदिक विवेक के साथ शुकाहारविहार को ही इन्द्रिय-निग्रह कहते हैं। इन्द्रियों के जितने विषय हैं, उनका सेवन करनेसे कोई हानि नहीं है, परन्तु धर्मकी मर्यादा से याहर नहीं जाना चाहिए। यदि मनुष्य विषयों में फँस जायगा, तो लक्ष्म धर्म की मर्यादा से याहर हो जायगा और अपना लोक-पगलोंक यिगाडेगा। ऐसे ही लोगों के लिए महाभाग्न मे कहा है —

शिरनोद्गृह्णतेऽप्राज्ञ करोति विषसं वदु ।

मोदरागद्वलाप्राज्ञा इन्द्रियार्थवज्ञानुग ॥

महाभारत. पनपथ १

करनेके लिए फर्मात है। फिर यदि पापों विषय अपना अपना काम इन्द्रियों पर करने लगे तो फिर उसके गन्ध होनेमें क्या शक्य है? किसी कवि ने कहा है:—

सुर्य मातंय फलय नृद्ध।

मीमा इत्या पंचमिरेव पंच ॥

यस्य प्रमादी स कर्म न इत्यते।

वा उच्यते पंचमिरेव पंच ॥

अर्थात् हरिन व्याघ्रा की बांसुरी की सुन्दर तान सुनकर मारा जाता है, हाथी मृगुल घास से पूरे हुए गड्ढे में सेटकर स्वर्ग सुख का अनुभव करनेमें लीचे घँस जाता है, पतिंगा शीपक का सुन्दर रूप देख कर अन्न मरता है, मीरा रस के सोम में भाकर कंठकों से विद्ध होकर अपने प्राण देता है मछली पंशो में लगी हुए मांस के टुकड़े की गन्ध पाकर उसकी ओर भाक पित होती है, मीर पंशी को निगलकर अपने प्राण देती है। ये प्राणी एक ही एक इन्द्रियविषय में कँसकर मर जाते हैं, फिर मनुष्य जो शत्रु स्वर्ग रूप रस मीर गंध इन पापों विषयों का दास हो जाय तो वह क्यों नहीं मर जाएगा ?

इस लिए मनुष्य को इन विषयों का दास नहीं होना चाहिए, बल्कि विषयों को अपना दास बनाकर रखना चाहिए। जो पुरुष क्लेशमित्र होते हैं, वे विषयों का, उचित मात्रा में और धर्मकी मर्यादा रखते हुए, सेवन करते हैं, मीर मिव अथवा अप्रिय विषय पाकर मन में दर्द-शोक नहीं मालते। मनुषी कहते हैं:—

शुत्वा नृप्या च इप्या च सुत्वा ज्ञत्वा च यो वद।

न इत्यत्रि ग्वावत्रि वा स विद्यो जितन्द्रियः ॥

अर्थात् निन्दास्तुति, अथवा मधुर शब्द या कठोर शब्द, सुनने से, कोमल या कठोर वस्तु के स्पर्श करनेसे सुन्दर अथवा कुरूप वस्तु देखने से, सुन्दर सरस अथवा नीरस कुस्वादु भोजन से, सुगन्ध अथवा दुर्गन्ध पदार्थ सूंघने से आनन्द अथवा खेद न हो, दोनों में अपनी वृत्ति को समान रखे, वहीं मनुष्य जितेन्द्रिय है।

जितेन्द्रिय पुरुष ही मोक्ष प्राप्त कर सकता है। विषयों में फँसा हुआ मनुष्य दुर्गति को प्राप्त होता है।

७—धी

ईश्वर ने जितने प्राणी ससार में पैदा किए हैं, उन सब में मनुष्य श्रेष्ठ है। मनुष्य क्यों श्रेष्ठ है? उसमें ऐसी कौन सी बात है, जो और प्राणियों में नहीं है? आहार, निद्रा, भय, मैथुन, इन चार बातों का ज्ञान मनुष्य को है, उसकी तरह अन्य प्राणियोंको भी है। परन्तु एक बात मनुष्य में ऐसी है, जो अन्य प्राणियों में नहीं है। और वह बात है—बुद्धि या विवेक। इसी को मनुजी ने धी कहा है। मनुष्य को ही परमात्मा ने यह शक्ति दी है कि, जिससे वह भली-बुरी बात का ज्ञान कर सकता है। किस मार्गसे चलें, जिससे हमारा उपकार हो, और दूसरों को हानि न पहुँचे? किस मार्ग से चलें, जिससे हमारा भी उपकार हो, और दूसरों का भी उपकार हो? यह विवेक मनुष्य को ही परमात्मा ने दिया है। उसने मनुष्य को बुद्धि दी है, जिससे वह दूसरे प्राणियों के मन की बात जान सकता है। उसको यह ज्ञान है कि, जिस बात से वह

को सुख होता है उससे दूसरेको भी होता है; और जिस पाप से हमको कष्ट होता है उससे दूसरों को भी कष्ट होता है। इन सब पापों को सोचकर ही वह संसार में घर्षता है। और यदि यह विप्रेक और यह बुद्धि मनुष्य में न हो तो पशु में और मनुष्य में कोई अन्तर नहीं। कृष्ण भगवान् ने गीता में बुद्धि भी तीन प्रकार की बतलाई है :—

प्रवृत्ति च निवृत्ति च क्षायाद्यार्षे भवाभव ।
 कर्त्तव्यं मोक्षं च वा वेत्ति बुद्धिः सा पार्थ सात्विकी ॥
 कथा धर्ममधर्मं च कार्यं चाकारमिष च ।
 अन्वेषाद्यन् ब्रह्मार्थात् बुद्धिः सा पार्थ राजसी ॥
 अधर्मं धर्ममिति वा मन्वते क्षमयादृशा ।
 मर्त्तान् विरतीतारथ बुद्धिः सा पाथ तामसी ॥

गीता अ १८

जिस काम से दिन हागा जिससे अधिक हागा; क्या काम करना चाहिये, क्या न करना चाहिये; भय कौन सी चीज़ है; और निर्मयता क्या है बचपन जिस बातों से हाता है; और अज्ञानता या मोह जिस बातोंसे मिश्रतो है—यह जिससे जाना जाता है वह उत्तम, धर्यान् सात्विको बुद्धि है। इसी प्रकार जिस बुद्धि से धर्म अधर्म और कार्य-अकार्य का कुछ ठीक ठीक ज्ञान नहीं हाता—सम में आकर सब काम करता है; मायब्रह्म आदे कोई ज्ञान कल्याणकारी हो जाये—धर्मो बुद्धि राजसी ब्रह्मार्थी है; और जो बुद्धि अधर्म को धर्म मानती है तथा तन्मागुण के प्रमाण के कारण जो बुद्धि सब कामों को बसता ही समझती है, वह तामसी बुद्धि है।

जो तन्मागुणी बुद्धि का धारण करता है बड़ा लघु बुद्धि

मान है। महाभारत में व्यासजी ने बुद्धिमान मनुष्य का लक्षण इस प्रकार दिया है —

धर्ममर्थं च कामं च शीनेतान् योज्जुपश्यति ।
 अर्थमर्थानुबन्धं च धर्मन्वर्मानुबन्धनम् ॥
 कामं कामानुबन्धं च विपरीतान् पृथक् पृथक् ।
 यो विचिन्त्य धिया धीरो व्यवस्यति स बुद्धिमान् ॥

महाभारत, आदिपर्व

धर्म, अर्थ, काम, तीनों का जो अच्छी तरह विचार करता है—देखता है कि अर्थ क्या है, और किस प्रकार से सिद्ध किया जाय, धर्म क्या है, और उसके साधन क्या हैं, तथा काम क्या है, और उसको किस प्रकार से सिद्ध करें, तथा ऐसे कौन कौन से विघ्न हैं कि, जिनके कारण से हम इन तीनों पुरुषार्थों को भली भाँति सिद्ध नहीं कर सकते। इस बात को जो धीर पुरुष अपनी बुद्धि से विचारता है, वही बुद्धिमान है।

बुद्धिमान मनुष्य प्रत्येक वस्तु और प्रत्येक प्राणी की परीक्षा कर के उसके हृदय में पैठ जाता है, और जिस प्रकार जो मानता है, उसी प्रकार उसको वश में कर लेता है। वह कभी किसी का अप्रिय आचरण नहीं करता। अपनी उन्नति करता है, पर दूसरे की हानि नहीं होने देता। व्यासजी कहते हैं —

न वृद्धिर्बहुमन्तव्या या वृद्धि क्षयमाधेहत् ।
 क्षयोऽपि बहुमन्तव्यो य क्षयो वृद्धिमाधेहत् ॥

—म० भा०, उद्योगपर्व

जिस उन्नति से दूसरे की हानि हो, वह वास्तव में उन्नति नहीं, वास्तविक उन्नति तो वह है कि, जिससे दूसरे का लाभ हो, चाहे अपनी कुछ हानि हो जाय, तो भी परवा नहीं।

परन्तु धाम्निव में पिना सोचे बिखारे कार्र भी काम नहीं करता
चाहिए । किसी कथि में कहा है —

गुणवशुपयदा कुर्वता कार्बमाशी
परिभक्तिरुपाशी कल्पः ब्रह्मिण ।
भक्तिरमकृपाशी धर्मनामाभिरुप-
भवंति हृदयशही कालकुल्पा विराका ॥

अध्यात् भडा गुण पसा ही पाये करता हा बुद्धिमान एग
पहले उमका कर्ताजा मन्दी भाति सोच लेते है, क्योंकि पिना
बिखारे जा भाय जल्दीमें किया जाता है उसका पल शत्रु
की तरह हृदय का गुणदायक होता है ।

जा पात भयनी रामक में न भाय, उसको गूढ और
बिछान् मार्गा न गूठना चाहिए । दितापदशमें कहा है :—

पलापुहं धर्मगुहं फलपुहं ।
बिद्यापुहं कथमा धानि वरम् ॥
काशीधर्मं वृत्तित्वा प्रमाथ ।
वः संदृष्टम्भो न मुच्येत् कदाचित् ॥

जय कार्र काम हमका करता हा भयना न करना हा, नय
भयन भात-पुर्वांगि जा हमारे विद्या बुद्धि धर्म और भयना
में गूढ हा गमनात और दैमगुपक गूठना चाहिए । एगका प्रमाण
करके उनकी गमनाद न जा मनुष्य काम करता है यह कर्मी
मात भयना सुम में नहीं रहना ।

जा मनुष्य विरुद्धांगि और बुद्धिमान हागा है, वह भात
गर् नरुद का गुण ही जाकर उग का मोहन का उपाय
करता है । भारी पर भयना बिद वेडा नहीं रहता । पर धर्मो
वेद एगका ही उगद हैककर गाँठ का वेद रहता है, गमना
बिना विनाते कार्र काम नहीं करता । नीति में कहा है :—

यो ध्रुवाणि परित्यज्य अध्रुवाणि निपेवते ।

ध्रुवाणि तस्य नश्यन्ति अध्रुव नष्टमेव हि ॥

जो स्थिर वस्तु को त्यागकर अस्थिर के पीछे दौड़ता है, उसका स्थिर वस्तु भी नाश हो जाती है, और अस्थिर तो नाश है ही । इसलिए खूब सोच-समझ कर किसी काम में हाथ लगाना चाहिए । महाभारत में कहा है .—

समन्त्रिते सुविक्रान्ते स्रुते सुविचारिते ।

सिध्यन्त्यर्था महाबाहो देव चात्र प्रदक्षिणम् ॥

महाभारत, वनपर्व ।

जो कार्य स्वयं अच्छा होता है, और अच्छी तरह से सोच समझ कर, तथा बड़ों से सलाह लेकर किया जाता है और उसमें खूब परिश्रम भी किया जाता है, वह कार्य सिद्ध होता है, और ईश्वर तथा भाग्य भी उसी के अनुकूल होता है । सोच-समझ-कर किया हुआ कार्य ही स्थायी होता है । इस विषय में नीति में कहा है —

सजीर्णमन्नं सुविचक्षणं सुत

सशासिता स्त्री नृपतिं सुसेवित् ।

सुचिन्त्यं चोक्तं सुचिचार्यं यत्कृतं

सदीर्घकारेऽपि न याति विक्रियाम् ॥

खूब अच्छी तरह पचा हुआ अन्न, बुद्धिमान लड़का, अच्छी तरह सिखाई हुई स्त्री, भली भाँति प्रसन्न किया हुआ राजा, विचारपूर्वक कही हुई बात, विवेकपूर्वक किया हुआ कार्य, ये बहुत काल तक बिगड नहीं सकते—ठीक वने रहते हैं ।

बुद्धिमान पुरुषों को जो कार्य करना होता है; उसको वे पहले प्रकट नहीं करते जब कार्य हो जाता है, तब आप ही आप

साग उम ज्ञान मिल है। इस विषय में महामारत उपागपय
में कहा है -

कल्पित प्रमाद कृष्णान्तर तु द्योयै ।
पर्यङ्कान्तर्कान्तरि तथा मन्त्रो न भिष्य ॥
कल्प कल्प न जानति मन्त्रं वा मन्त्रिन् यो ।
कृष्णवाक्यं जानन्ति न वे रतिग उच्यते ॥

जा बाप काना हा उतका कहना नहीं चाहिये, जा कर सुके है
उतका कहने में कोई भय नहीं। धर्म धर्म काम इत्यादि
सांसारिक पुण्यायो के जिनका बाप है उतका गुण ही रगता
चाहिये। जब हा आपन सब भाव ही प्रकट हो जायेंगे। इन्हीं
प्रकार उतके वाक्य के सब गुण विचार भा कर्मी प्रकट न होने
देना चाहिये। सांगत में बुद्धिमान् अनुग्रह कहा है कि जिनका
गुण विचार तथा कृपारे का भा बननाई हुई गुणवान् कोई भौर
न जान सके। हा जा कर्मी यह कर गुना हा, उतका भये ही
कोई जान सिये।

जिन जिन काना का बुद्धिमान् अनुग्रह का बार बार विचार
करने परना चाहिये, इस विषय में सांगतय मुनि का समय वा
रगन सांग है -

ॐ हाँ कर्मी जिनानि हा एत वा उपगाम ।

कल्प का कले रति। इति कल्पं सुसुदु ॥

सांगत कना बन कहा है 'हजार अनु ग्रह कान है' हेतु कीम
भीर कना है 'आमना भीर लय कना है' हेतु कीम है ?
हजार कर्मी कहा है 'जिनकी शक्ति हममें है' हेतु सब काना
के दिव्य ही अनुग्रह का वागवाह विचार काने परना चाहिये।

८—विद्या

विद्या का अर्थ है जानने की बात । ससारमें जितनी चीजें हमको दिखलाई देती हैं, और जो नहीं दिखलाई देती, सब जानने की बात हैं । सब का ज्ञान प्राप्त करना चाहिए । सृष्टि से लेकर ईश्वर पर्यन्त सब का ज्ञान प्राप्त करने से मनुष्य की भीतरी आँखें खुल जाती हैं । परन्तु यदि अधिक न हो सके, तो अपनी शक्ति भर, जहाँ तक हो सके, विद्या और ज्ञान प्राप्त करना मनुष्य का कर्त्तव्य है । किसी कवि ने कहा है कि—

अनन्तशास्त्रं बहुलाश्च विद्या,

क्षलपश्च कालो बहुविघ्नता च ।

यत्प्रामभूतं तदुपासनीयं,

इसैर्यथा क्षीरनिवाम्बुमध्यात् ॥

अर्थात् शास्त्र अनन्त हैं । विद्या बहुत है । समय बहुत थोड़ा है । विघ्न बहुत हैं । इसलिए जो सारभूत है, वही उपासनीय है, जैसे हस पानी में से दूध ले लेता है ।

इस लिए अपनी शक्ति भर माता-पिता को अपने बालकों को विद्या अवश्य पढ़ानी चाहिए । चाणक्यनीति में कहा है —

माता शत्रुः पिता वैरी येन बालो न पाठितः ।

न शोभते सभामध्ये इसमध्ये षको यथा ॥

अर्थात् जो माता-पिता अपने बालकों को विद्याभ्यास नहीं कराते, वे शत्रु हैं । उनके बालक बड़े होने पर सभा में अपमानित होते हैं, और ऐसे कुशोभित होते हैं, जैसे हसों के बीच में बगुला ।

अनक माना पिता अपन बाळकों का मोह में भावर, डाड़ प्यार में डाले रखत है। छड़का ८ १० वर्ष का बड़ा हो जाता है फिर भा झूठे प्रेम में भाकर उसका बाल नहीं सुपारती है और मोह में भाकर कहते हैं, "पड़ु सेगा मर्मा बधा है।" परन्तु ये नहीं समझते कि, हम डाड़ प्यार में भग्ये होकर बच्चे का जीवन गराव कर रहे हैं। प्रिय में पड़ु कर उनको 'श्रेय' का ध्यान ही नहीं रहता। श्रेय कहते हैं उसको जो पहले तो प्रिय मातृम हाता है, परन्तु पीछे से प्रिय का काम करता है और श्रेय उसका कहने हैं, जो पहले कष्टदायक मातृम होता है, पर पीछे से उसमें हित होता है। झड़कों का प्यार जो एक ऐसी ही बीज है जो पहले तो माता पिता इत्यादि को मोह के कारण प्रिय मातृम होता है, पर पीछे से बही छड़के उष उहण्ड बन जाते हैं, तब माता पिता और सब को दुख होता है। इस स्थित पाणिनी मुनि ने लिखा है —

मायनेः पामिधिय मित गुणो न विवाङ्मि ।

वाङ्मनाङ्गिको वाचस्तवाङ्मनाङ्गिको गुणाः ॥

अर्थात् जो माता पिता और गुरु अपनी सन्तान और शिष्यों का शान्त करती है, ये माता अपनी सन्तान और शिष्यों का असुन विमा रह है, और जो उनका डाड़-प्यार करती है, वे उषका माना प्रिय विमाकर नष्ट-स्रष्ट कर रहे हैं; क्योंकि डाड़ प्यार से सन्तान और शिष्यों में अनेक श्रेय भा जाते हैं, और ताड़न न उनमें गुण भाते हैं।

बाळकों का भी बाह्य कि वे ताड़ना से प्रसन्न और डाड़ प्यार से दुःख रहें। परन्तु माता पिता गुरु इत्यादि का ध्यान रहना बाह्य कि वे श्रेय में भाकर उनका ताड़न न करें,

किन्तु भीतर से उन पर कृपा-भाव रखकर ऊपर से उन पर कठोर दृष्टि रखें ।

अस्तु । विद्या पढ़ने-पढ़ाने में उपर्युक्त बातका ध्यान अवश्य रखना चाहिए । और इसी लिए हमने इस पर विशेष जोर दिया है । मनुष्य को विद्या की बड़ी आवश्यकता है । इसलिए नहीं कि, सिर्फ अपना जीविका चलाकर अपना पेट भर ले, बल्कि इस लोक और परलोक के सब कर्तव्यों को करते हुए अपने देश का भी उपकार कर सके । विद्या की महिमा वर्णन करते हुए किसी कवि ने बहुत ही ठीक कहा है —

विद्यानाम नरस्य रूपमधिकं प्रच्छन्नं गुप्तं धनम् ।

विद्या भोगकरी यशं सुखकरी विद्या गुरुणा गुरु ॥

विद्या बन्धुजनो विदेशगमने विद्या परं देवतम् ।

विद्या राजसु पूज्यते न हि धनं विद्याविहीनं पशु ॥

अर्थात् विद्या मनुष्य का बड़ा भारी सौन्दर्य है । यह गुप्त धन है । विद्या भोग, यश और सुख को देनेहारि है । विद्या गुरुओं का गुरु है । विदेश जाने पर विद्या ही मनुष्य का बन्धु सहायक है । विद्या एक सर्वश्रेष्ठ देवता है । विद्या राजाओं के लिए भी पूज्य है । इसके समान और कोई धन नहीं । जो मनुष्य विद्या से विहीन है, वह पशु है ।

विद्या-धन में एक बड़ी विशेषता और भी है । वह यह कि, यह खर्च करने से और भी बढ़ता है । दूसरे धन खर्च करने से घटते हैं, परन्तु इसकी गति उलट्टी है । यदि विद्या दूसरे को दान न की जाय—पढ़ने-पढ़ाने का क्रम जारी न रखा जाय, तो यह भूल जाती है । और यदि पढ़ना-पढ़ाना जारी रखा जाय, तो इसकी और वृद्धि होती जाती है । इसी पर एक कवि ने बड़ी अच्छी उक्ति की है । वह कहता है —

कर्णः कोऽपि कोचोर्षं विप्लवे एव धारति ।

अपचाय बुद्धिमाधाति अपमाधाति संघपाप् ॥

अर्थात् हे सगस्यतो देवी आप के कोप की दशा तो बहुत ही विचित्र जान पड़ती है। क्योंकि व्यय करने से इसका बुद्धि होती है, और संघय करने से यह घट जाता है। किसी हिन्दी कवि ने एक दोहे में यही भाव दर्शाया है —

सरस्यते के मंडार को बड़ो अपचाय बात ।

ज्यों ज्यों करे त्यों बड़ै विन करे बरि बात ॥

इस लिए मनुष्य को चाहिए कि, विद्या का पढ़ना-पढ़ाना कभी बन्द न करे। कौन से शास्त्र और विद्या मनुष्य को पढ़नी चाहिए, इस विषय में मनुजी का आदेश इस प्रकार है —

बुद्धिबुद्धिकरान्वाह्यं ज्ञानानि च विद्यानि च ।

नित्यं वाचान्कर्मण्येव विद्यमानेषु वैदिकान् ॥

विद्यादि शास्त्र, जिनमें विद्वयशास्त्र आयुर्वेद, धनुर्वेद इत्यादि सब आ जाते हैं, और जो शीघ्र बुद्धि धन और हित को बढ़ाने वाले हैं उनको नित्य पढ़ना-पढ़ाना चाहिए। यह नहीं कि, पिछासय में पढ़कर उनको भूल जाओ, वरिष्ठ जीवन भर अपनी जीविका का कार्य करते हुए उनका अभ्यास करते रहना चाहिए।

आजकल पुस्तकी विद्या का बहुत प्रचार हो रहा है, पर वास्तव में पुस्तकी विद्या सही काम नहीं देती। इस लिए विद्या अपने आचरण में छाता चाहिए। सब बातें कंठगत होनी चाहिए। और उनका काय में लाने का कोशिस भी जानना चाहिए। पुस्तकी विद्या के विषय में आणक्य मुनि ने इस प्रकार कहा है —

भर्त्सः कोपि कोपेभ्य विघ्नत तव भारति ।

अन्वयः बुद्धिमाणाति अन्वयमाणाति अन्वयात् ॥

अर्थात् हे सख्यन्तवो वैशी भाप क कोप की वृथा तो बहुत ही विविध ज्ञान पड़ती है । क्योंकि अन्वय करने से इसका बुद्धि होती है, और सम्यक् करने से यह घट जाता है । किसी हिन्दी कवि ने एक दाहे में यही भाव दर्शया है —

सख्यति क प्रहार की बड़ी अत्यन्त वाव ।

ज्यों ज्यों करके त्वां बड़े विन करके बरि गत ॥

इस छिप्य मनुष्य को बाह्यि कि, विद्या का पढ़ना-पढ़ाना कामी कम् न करे । कौन से शास्त्र और विद्या मनुष्य का पढ़नी बाह्यि, इस विषय में मनुष्यी का आदेश इस प्रकार है —

बुद्धिबुद्धिभ्याम्बाहु अन्वयि क विघ्ननि क ।

भिरं ध्यान्वयन्वयेत निगमोन्वयेत वैदिकान् ॥

वैदिक शास्त्र जिनमें शिष्यशास्त्र भायुर्बेद, अनुर्बेद इत्यादि सब आ जाते हैं, और जो शिष्य बुद्धि, धन और हित को बढ़ाने चाहें उनको नित्य पढ़ना-पढ़ाना बाह्यि । यह नहीं कि, विद्यालय में पढ़कर उनको भूख आओ, बल्कि जीवन भर अपनी जीविका का कार्य करते हुए उनका अभ्यास करते रहना बाह्यि ।

भाष्यकण्ड पुस्तकी विद्या का बहुत प्रकार हो रहा है, पर वास्तव में पुस्तकी विद्या सबैय काम नहीं देती । इस छिप्य विद्या अपन भावरूप में साना बाह्यि । सब बातें कंडाप्र होनी बाह्यि । और उनको कार्य में लाने का बीजम् भी जानना बाह्यि । पुस्तकी विद्या के विषय में बाणक्य मुनि ने इस प्रकार कहा है —

पुस्तकेषु च या विद्या परहस्तेषु यद्वनम् ।

उत्पन्नेषु च कार्येषु न सा विद्या न तद्वनम् ॥

चाणक्यः

अर्थात् पुस्तक को विद्या और पराये हाथ का धन कार्य पडने पर उपयोग में नहीं आता । न वह 'विद्या' है, और न वह धन है ।

विद्या पढनेमें बालको को खूब मन लगाना चाहिए । क्योंकि बालपन में जो विद्या पढ ली जाती है, वह जिन्दगी भर सुख देती रहती है और विद्या एक ऐसा धन है, जिसमें किसी प्रकार का विघ्न भी नहीं है । किसी कविने कहा है —

न चौरहार्यं न च राजहार्यं

न भ्रातृभाज्यं न च भारिकारी ।

व्यये कृते वर्धत एव नित्यं

विद्याधनं सर्वधनप्रधानम् ॥

अर्थात् विद्या-धन को न तो चोर चुरा सकता है, न राजा डाड सकता है, न भाई बँटा सकता है, और न कोई इसका बोझा है । फिर व्यय करने से रोज बढ़ता है । सचमुच ही विद्याधन सब धनों से श्रेष्ठ है ।

९-सत्य

जा बात जैसी कृषी सुनी मयबा की हो, मयबा जसी यह मन में हो उसको उसी प्रकार बाप्यो द्वारा प्रकट करना सत्य बोलना कहलाता है। मनुष्य को न सिर्फ सत्य बोलना ही बाह्य, बल्कि सत्य ही विचार मन में डालना बाह्य। और सत्य ही काम भी करना बाह्य। सर्वथा सत्य का व्यवहार करने से ही मनुष्य को स्वार्थ और परमार्थ में सच्ची सफलता मिल सकती है। जो मनुष्य अपनी सब कार्यों में सत्यका धारण करता है वह क्रियासिद्ध और वाचासिद्ध हो जाता है। अर्थात् जो कार्य वह करता है, उसमें विफलता कभी होती ही नहीं; और जो बात वह कहता है वह पूरी ही हो जाती है।

सत्य वास्तव में ईश्वरका स्वरूप है। इसलिये जिसके हृदय में सत्य का वास है, उसके हृदय में ईश्वर का वास है। किसी कवि ने कहा है —

घोष करोकर तू नहीं झूठ करोकर पाप ।

बाके हिरद घोष है, तूके हिरदे भाव ॥

अर्थात् सत्य के समाप और कोई तप नहीं, और झूठके परापर कोई पाप नहीं है। जिसके हृदयमें सत्य का वास है, उसके हृदय में परमात्माका वास है। इसलिये सत्य का भावण करने में कभी मनुष्य को पंछे न देना बाह्य। उपनिषद् में भी यही कहा है —

बहि ज्ञवात्सरो जग्ये वाक्वात्पाकं वत्म् ।

बहि ज्ञवात्सर्वा जग्ये जन्वात्पाकं जन्वात्पाकम् ।

अर्थात् सत्य से भ्रष्ट मन्य कोई भ्रष्ट नहीं है।

चर अन्य कोई पातक नहीं है। इसी प्रकार सत्य से श्रेष्ठ और कोई ज्ञान नहीं है। इस लिए सत्य का ही आचरण करना चाहिए।

प्रायः ससार में ऐसा देखा जाता है कि सत्य का आचरण करनेवाले को कष्ट उठाना पड़ता है, और मिथ्याचरणी पाखंडी धूर्त लोग सुख से जीवन व्यतीत करते हैं। परन्तु जो विचार-शील मनुष्य हैं, वे जानते हैं कि सत्य से प्रथम तो चाहे कष्ट हो, परन्तु अन्त में अक्षय सुख की प्राप्ति होती है। और मिथ्या आचरण से पहले सुख होता है; और अन्त में उसकी दुर्गति होती है। वास्तव में सच्चा सुख वही है, जो परिणाम में हितकारक हो। देखिए, कृष्ण भगवान् गोता में तीन प्रकार के सुखों की व्याख्या करते हुए कहते हैं —

यत्तदग्रे विषमिव परिणामेऽमृतोपमम् ।

तत्सुख सात्त्विकं प्रोक्तमात्मबुद्धिप्रसादजम् ॥

अर्थात् जो पहले तो विष की तरह कटु और दुःखदायक मालूम होता है, परन्तु पीछे अमृत के तुल्य मधुर और हितकारक होता है, वही सच्चा सात्त्विक सुख है। ऐसा सुख आत्मा और बुद्धि की प्रसन्नता से उत्पन्न होता है।

आत्मा और बुद्धि को प्रसन्नता का उपाय क्या है? क्या मिथ्या आचरण से कमी आत्मा और बुद्धि प्रसन्न हो सकती है? सब जानते हैं कि, पापी आदमी की बुद्धि ठिकाने नहीं रहती। उसका पाप ही उसको खाता रहता है। पहले तो वह समझता है कि, मैं मिथ्या आचरण करके खूब सुखी हूँ, पर उसके उसी सुख के अन्दर ऐसा गुप्त विष छिपा हुआ है, जो किसी दिन उसका सर्वनाश कर देगा। उस समय उसे स्वर्ग

नरक यही भी ठिकाना न छोड़ेगा। इस छिपे मिथ्या भावरूप छोड़कर मनुष्य को सर्वत्र सत्य का ही वर्ताव करना चाहिए। इसी से मन और बुद्धि को सच्ची प्रसन्नता प्राप्त होती है, और ऐसा सच्चा सुख प्राप्त होता है, जिसका कमी मात्र नहीं होता।

सत्य से ही यह सारा संसार बंध रहा है। यदि सत्य एक क्षण के छिपे भी अपना कार्य बन्द कर दे, तो प्रलय हो जाय। यदि एक मनुष्य कुछ मिथ्या भावरूप करता है, तो दूसरा तुरन्त ही सत्य भावरूप कर के इस सृष्टि को रक्षा करता है। यह मनुष्य की ही बात नहीं है, बल्कि संसार की मध्य सब भौतिक शक्तियाँ भी सत्य से ही बंध रहीं हैं। भाष्यकर्मनीति में कहा है —

सत्येन धर्मो पृथ्वी सत्येन उन्ने रधि।

सत्येन वाति वायुश्च धर्मो सत्ये प्रविक्रियम्॥

अर्थात् सत्य से ही पृथ्वी स्थिर है सत्य से ही सूर्य तप रहा है, और सत्य से ही वायु बह रही है। सत्य में ही सब स्थिर है।

ओ लोग सत्य का भावरूप नहीं करते हैं, उनकी पूजा अथ तप सब व्यर्थ है। जैसे ऊपर भूमि में बीज बोने से कोई फल नहीं होता उसी प्रकार मिथ्याधरण करनेवाला चाहे कितना धर्म करे, सत्य के बिना उसका कोई फल नहीं होता। मात्रकाल प्रायः हमारे देश में देखा जाता है कि पाषण्डी लोग सब प्रकार से मिथ्या व्यवहार करके, लोगों का गला काटकर, अपने सुख-भोग के सामान जमा करते हैं, परन्तु ऊपर से अपना ऐसा भय क्वात है जैसे वे कोई बड़े भारी साधु और ईश्वर मन्त्र हों। स्नान-उत्थ्या अथ तप, सब धर्म के कार्य नियमित रूप से करते हैं, पर कच्चेहरी में जाकर भूठी गन्धाही देते

हैं। ऐसे लोगों का सब धर्म-कर्म व्यर्थ है। लोग उनको अच्छी दृष्टि से नहीं देखते। भले आदमियों में उनका आदर कभी नहीं होता। ऐसे धूर्त और पाखण्डी लोगों से सदैव बचना चाहिए।

ये लोग ऊपर से सत्यका आवरण रखकर भीतर से मिथ्या व्यवहार करते हैं। जो सीधे-सादे मनुष्य होते हैं, जिनको नीति का ज्ञान नहीं है वे इनकी 'पालसी' में आ जाते हैं। जिसमें मिथ्या की पालिश की होती है, उसी को 'पालसी' कहते हैं। पालसी को सदैव अपने जलते हुए सत्य से जला डालो। क्योंकि ऋषियों ने कहा है —

सत्यमेव जयते नानृतं सत्येन पन्था विततो देवयान ।

अर्थात् सत्य की ही विजय सदैव होगी। मिथ्या की नहीं। सत्य के ही मार्ग से परमात्मा मिलेगा। सब प्रकार के कल्याण का ज्ञान सत्य से ही होगा। हमारे पूर्वज ऋषिमुनि लोगों ने सत्य का ही मार्ग स्वीकार किया था, और उनमें यह शक्ति हो गई थी कि, जिसके लिए वे जो बात कह देते थे, उसके लिए वही हो जाना था। चाहे जिसको शाप दे देते, चाहे जिसको वरदान दे देते। यह सत्य-साधना का ही फल था। वे अन्यथा वाणी का उपयोग कभी नहीं करते थे, न कोई अन्यथा बात मन में लाते थे, और न कोई अन्यथा कार्य करते थे। वास्तव में मनुष्य का धर्माधर्म सत्य पर ही निर्भर है। एक सत्य का वर्ताव कर लिया, इसी में सब आ गया। फिर कोई उसको अलग धर्म करने की जरूरत ही नहीं रह जाती। क्योंकि कहा है —

सत्य धर्मस्तपोयोग सत्यं ब्रह्म सनातनम् ।

सत्यं यज्ञं परं प्रोक्तं सर्वं सत्ये प्रतिष्ठितम् ॥

अर्थात् धर्म, तप, योग, परब्रह्म, यज्ञ, इत्यादि जितना कुछ

कस्याप्य स्वरूप ही, वह सब सत्य ही हैं। सत्य में सब भा जाता है। इसलिये सर्वत्र भात्मा के अनुकूल भावरण करो। ऐसा न करो कि मन में कुछ भी हो वकन से कुछ भी न कहो, भीर करो कुछ भीर। मन, वाणी और कर्म, तीनों में एकता रखो। यही सत्य है। इसी से तुम्हारा हित होगा, भीर इसी से तुम संसार का हित कर सकोगे। भाइयों पाठक, हम सब मिलकर उस सत्यस्वरूप परमात्मा की स्तुति करें, उसी की शरण में क्यों जिसमें वह हमारे हृदय में ऐसा बल देवे कि, हम सत्य की रक्षा भीर असत्य का दमन कर सकें :—

सत्यम्, सत्कारं त्रिदशं,
 सत्यं चोचि विहितं च सत्यम् ।
 सत्यं सत्यं सत्यं सत्यमेवम्
 सत्वात्सत्यं त्वं सत्यं सत्यम् ॥

हे सत्यमत हे सत्य से भी श्रेष्ठ, हे तीनों लोक और तीनों काष्ठ में सत्यस्यस्य हे सत्य के उत्पत्तिस्थान हे सत्य में रहने वाले, हे सत्य के मो सत्य, हे कस्याप्यकारी सत्य के मार्ग से ले सकनेवाले, सत्य की भात्मा हम आपकी शरण भावे हैं।

१०—अक्रोध

काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद, मत्सर ये छँ मन के विकार हैं, जो मनुष्य के शत्रु माने गये हैं। इन छँ विकारो को जिसने जीत लिया, उसने मानों अपने-आप को जीत लिया। यही छँ विकार मन के अन्दर ऐसे बसते हैं कि जिनके कारण मनुष्य आप ही अपना दुश्मन हो जाता है, और यदि इनको जीतकर अपने वश में कर लिया जाय, तो मनुष्य आप ही अपना मित्र है।

बन्धुरात्मात्मनस्तु येनात्मैवात्मना जित ।

अनात्मनस्तु शत्रुत्वे वर्तेतात्मैव शत्रुवत् ॥

गीता, अ० ६

जिसने अपने-आप को, अपने आप के द्वारा, जीत लिया है, अर्थात् उपर्युक्त छँ मनोविकारोंको अपने वश में कर लिया है, उसका आत्मा उसका मित्र है—अर्थात् इन छँ मनोविकारो को अपने वश में रखकर वह इनसे अपना कल्याण कर सकता है, और जिसने इनको अपने-आप वश में नहीं किया है, उसके लिए ये शत्रु तो बने-बनाये हैं। इनके वश में होकर रहनेवाला मनुष्य आप ही अपना घात करने के लिए काफी है। उसके लिए किसी बाहरी शत्रु की आवश्यकता नहीं।

इनमें प्रथम दो विकार, काम और क्रोध सब से अधिक प्रबल हैं, क्योंकि इन्हीं से अन्य सब विकार पैदा होते हैं। इन दोनों के विषय में श्रीकृष्ण भगवान् गीता में कहते हैं—

काम एव क्रोध एव रजोगुणसमुद्भवः ।

महाशनो महापाप्मा विद्ध्येनमिह धैरिणम् ॥

गीता, अ० ३

अर्थात् यह काम और यह क्रोध, जो मनुष्य के रजोगुण अर्थात्
 म्हात्मसूक्त के अर्थ से पैदा होता है, यज्ञा भारी भस्मक, पापी
 राक्षस है। इस संसार में मनुष्य का यह भारी दुस्मन है। यह
 किस प्रकार पैदा होता है, और फिर किस प्रकार मनुष्य का
 नाश करता है, इसका भी क्रम जानने योग्य है —

प्रापयो विष्वाहं बुधाः बहुस्तेष्वब्राह्मणे ।
 सद्ब्राह्मणब्राह्मणं कामा कामात्कोषोऽभिब्राह्मणे ॥
 क्रोधाद्भवति संमोहः संमोहात्स्फुटिविभ्रमा ।
 स्फुटिभ्रं वाद् बुद्धिबाधो बुद्धिबाधत्प्रवृत्तिः ॥

श्लोक २

मनुष्य पहले चिप्या का चिन्तन करता है। चिप्या के चिन्तन
 से फिर जब चिप्यों में प्रीति उत्पन्न होती है। प्रीति उत्पन्न होने
 से फिर उनको पाने की इच्छा उत्पन्न होती है। पाने की इच्छा
 उत्पन्न होने के बाद, जब इच्छापूर्ति नहीं होती तब क्रोध उत्पन्न
 होता है। क्रोध से अविषेक होता है अर्थात् क्या करना चाहिए,
 क्या नहीं करना चाहिए, यह विचार-शक्ति नहीं रहती। जब
 विचार शक्ति नहीं रहती, तब यह अपने भाप को भूख जाता है।
 भार जब यह अपने भापको भूख गया, तब उसकी बुद्धि-अर्थात्
 ज्ञाने-पुरेका विचार करके किसी निर्णय तक पहुंचने की शक्ति—
 नी नष्ट हो जाती है, और जहां यह शक्ति नष्ट हुई कि, मनुष्य
 का सुबनाश हो जाता है।

इसलिए काम से उत्पन्न होनेवाला क्रोध, जो सब पापों का
 मूल है उसका परा में करके मनुष्य को अक्रोध बनना चाहिए।
 अक्रोध का यह मतलब नहीं है कि आपका कोई भी भंग मनुष्य
 के अन्दर न रहे। यदि हमका रत्न ही मतलब है कि, परस

क्रोध को धारण न करो कि जिससे स्वयं अपनी अथवा दूसरे का हानि हो। हां, विवेक के साथ क्रोध करने से कोई हानि नहीं हो सकती। क्रोध के साथ यदि विवेक शामिल होता है, तो वह क्रोध तेज के रूप में परिवर्तित हो जाता है। महाभारत में कहा है —

यस्तु क्रोधं समुत्पन्नं प्रज्ञया प्रतिबाधते ।

तेजस्विनं तं विद्वासो मन्यन्ते तत्त्वदर्शिन ॥

महाभारत, वनपर्व ।

क्रोध उत्पन्न होने पर जो मनुष्य विवेक के द्वारा उसको अपने अन्दर ही रोक लेता है, उसको विद्वान् तत्त्वदर्शी पुरुष तेजस्वी कहते हैं, और इस तेजस्विता की मनुष्य के लिए बड़ी जरूरत है। तेजस्वी मनुष्य अन्दर से कोमल रहता है, परन्तु ऊपर से कठोरता धारण करता है। दुष्टों का दमन करने और पीड़ितों को अत्याचार से छुड़ाने के लिए तेजस्विता दिखानी पड़ती है। तेजस्विता ही शूरता और निर्भयता की जननी है। तेजस्वी पुरुष की बुद्धि सदैव निर्मल रहती है। वह क्रोध करता है, परन्तु क्रोध के कारण उसके हाथ से कोई अनर्थ अथवा पाप नहीं होने पाता। इसी लिए कहा है कि—

क्रोधेऽपि निर्मलधिया रमणीयतास्ति ।

अर्थात् जिसको बुद्धि पापरहित है, उसके क्रोध में भी एक प्रकार का सौन्दर्य रहता है। साधु पुरुषों के क्रोध से भी कल्याण होता है। वे जिसके ऊपर क्रोध करते हैं, उसका भला होता है। सर्वसाधारण लोगों को चाहिए कि, छोटी-छोटी बातों पर अथवा बिना कारण, क्रोध करने की आदत न-डालें। यदि किसी कारणवश क्रोध आ जावे, तो उसको साधने का प्रयत्न करें, और यदि क्रोध करने की आवश्यकता ही मालूम हो, तो

अपने भापे में खूब तात्कालिक धोखा सा क्रोध दिखाकर फिर तुच्छ शान्ति धारण कर लें। दूसरा यदि क्रोध करता हो तो कभी उसके पहले में क्रोध न करना चाहिए। बल्कि ऐसे मौके पर स्वयं पूर्ण शान्ति धारण करके उसके क्रोध को शान्त करना चाहिए —

अक्रोधश्च अनेकं क्रोधं भवति चानुना अनेकः ।

महाभारत, उद्योगपर्व ।

अक्रोध अर्थात् शान्ति से क्रोध को जीते, और तुच्छता को सज्ज नता से जीते। अर्थात् क्रोध करने से अपना ही हृदय अछूता है, दूसरे की कोई हानि नहीं होती। काम में भाकर जब मनुष्य अपने भापे से बाहर हो जाता है, तब अपने बड़े-बड़े प्रियजनवादी भी हत्या कर डालता है, और जब कभी वही क्रोध और तुच्छ और परमात्मा के रूप में परिवर्तित हो जाता है, तब मनुष्य अहमहत्या करने में भी नहीं झूकता। किसी कवि ने कहा है—

अक्रोधश्च काञ्चिदप्यत्र विपते महत्फलदा ।

त्याज्यं इति क्रोधः अक्रोधो च पापघ्नश्च ॥

अप्राप्त क्रोध और काञ्चिदप्यत्र अहं में एक पड़ा मारी मल्लर है—क्रोध जिसके पास रहता है, उसी को अछूता है; परन्तु अहं जिसके पास रहता है, उसको कोई हानि नहीं पहुंचाता।

क्रोध से दुर्बलता माती है। शान्ति से बल बढ़ता है। इस लिए काम-क्रोधान्ति सब तुच्छ मनोविचारों को अपने अन्दर ही मारकर शान्ति धारण करना चाहिए। शान्ति से चित्त प्रसन्न रहता है, मन और शरीर का संतुल्य रहता है। जिसके हृदय में सर्वत्र शान्ति रहती है, उसके चेहरे पर भी शान्ति चित्त जाती है। उसके प्रकृत और प्रसन्न रूप को देखकर देखने

वाले को आनन्द प्राप्त होता है। इसके विरुद्ध जिसके मन में सदैव क्रूरता और क्रोध के भाव उठते रहते हैं, उसका चेहरा विकृत और बदसूरत हो जाता है। ऐसे मनुष्य को देखकर घृणा होती है। इस लिए मन, वचन और कर्म तीनों में मधुरता और शान्ति धारण करने से मनुष्य स्वयं सुखी रहता है, और तसार को भी उससे सुख होता है। वेद में कहा है.—

मधुमन्मे निक्रमण मधुमन्मे परायणम् ।

वाचा वदामि मधुमद् भूयासं मधुसन्दश ॥

अथर्ववेद ।

अर्थात् हमारा आचरण मधुरतापूर्ण हो, हम जिस कार्य में तत्पर हो, वह मधुरतापूर्ण हो, हम मधुर वाणी बोलें, हमारा सब कुछ मधुमयी हो ।

धर्मग्रन्थ

वेद

हिन्दुओं का मूल ग्रन्थ वेद है। यह सृष्टि के आदि में परमात्मा ने उत्पन्न किया। वेद-ग्रन्थ चार हैं—(१) ऋग्वेद, (२) यजुर्वेद, (३) सामवेद, और (४) अथर्ववेद। चारों वेद परमात्मा से ही सृष्टि के आदि में उत्पन्न हुए। इस विषय में ऋग्वेद में ही उल्लेख है—

तस्माद्यज्ञात्सर्वहुत ऋच सामानि यज्ञिरे ।

छन्दासि यज्ञिरे तस्माद्यजुस्तस्मादजायत ॥

—ऋग्वेद

मघान् उस परम पूज्य पदस्वरूप परमात्मा से हा श्रद्धा, सम्म,
 छम् (मघघ) और यत्तुर्वेष उत्पन्न हुए । भव प्रमत्त यह है कि
 सृष्टि के भावि में परमात्मा ने वेदों के मन्त्र कौसे उत्पन्न किए ।
 बृहदारण्यक उपनिषद् में लिखा है —

अथ महतो भूत्स्य निःशसिःश्रेतुषुषरुषरोषडुर्वेदा सामरदाभ्यर्थाद्विराग्य
 बृहदारण्यक

उस महामृत परमात्मा के निःश्वास से चारों वेद निकले । क्या
 परमात्मा ने श्वास छोड़ा था ? हाँ । किस प्रकार ? उसका ज्ञान
 ही उसका श्वास है । यह श्वास उसने सृष्टि के भावि में चार
 ऋषियों के हृदय में छोड़ा था । ये चार ऋषि पहले-पहल सृष्टि
 में उत्पन्न हुए । उन्हीं चार ऋषियों के द्वारा वेद प्रकट हुए ।
 अतएव ब्राह्मण में लिखा है —

अथऋषयो वाचोर्नडुर्वेदा सूर्यसामवदा ।

अथवा ना

मघान् मग्नि वायु, मादित्य और अग्निरा ऋषि के हृदय में
 परमात्मा ने पहले-पहल अग्नि, वायु, सामवेद, और
 मघवेदेद का ज्ञान प्रकाशित किया । अपने हृदय में इन चारों
 ऋषियों ने परमात्मा का ज्ञान सुना, और इसा छिपे वेदों का
 नाम 'धृति' पड़ा ।

वेदों में ही परमात्मा ने अखिल मानवजाति के छिपे धर्मका
 ज्ञान दिया है । फिर वेदों से ही मन्त्र सब ग्रन्थों में ज्ञान का
 विकास हुआ है । अर्थात् संसार के मन्त्र सब ग्रन्थ वेदों के
 बाह्य रत्ने गये हैं, और उन सब में वेदों के ज्ञान की ही मूल
 मूल प्रकाश से व्याख्या की गई है ।

उपवेद

प्रत्येक वेद का एक एक उपवेद है—जैसे (१) ऋग्वेद का अथर्ववेद, जिसमें विज्ञान, कला-कौशल, कृषि, वाणिज्य, इत्यादि धन उत्पन्न करने के साधनों का वर्णन है। (२) यजुर्वेद का अनुवेद, जिसमें राजनीति, शस्त्र-अस्त्र की कला और युद्धविद्या का वर्णन है, (३) सामवेद का गान्धर्व वेद, जिसमें संगीत-शास्त्र का वर्णन है, (४) अथर्ववेद का आयुर्वेद, जिसमें वनस्पति, रसायन और शरीरशास्त्र इत्यादि का वर्णन है।

वेदाङ्ग

वेद के छै अंग हैं, जिनके नाम इस प्रकार हैं — शिक्षा, कल्प, व्याकरण, निरुक्त, छन्द, ज्योतिष। ये छः अङ्ग भी वेद की व्याख्या करते हैं।

वेदोपाङ्ग

छै अंगों की तरह वेद के छै उपाङ्ग भी हैं। उनके नाम ये हैं — (१) न्याय, गौतम ऋषि का रचा हुआ, (२) वैशेषिक, कणाद ऋषि का रचा हुआ, (३) सांख्य, महर्षि कपिल का निर्मित किया हुआ (४) योग, भगवान् पतञ्जलि का, (५) मीमांसा, महर्षि जैमिनि का, (६) वेदान्त, महर्षि वादरायण उपनाम वेदव्यास का रचा हुआ। वेद के इन्हीं छै उपाङ्गों को छे शास्त्र या पङ्दर्शन भी कहते हैं। इनमें ईश्वर, जीव और सृष्टि का तत्त्वविचार है। सब का परस्पर-सम्यन्ध और बन्ध-मोक्ष का उत्तम विचार है। यह भी सब वेद की ही व्याख्या करते हैं।

ब्राह्मण ग्रन्थ

वेदों की व्याख्या करनेवाले कुछ ब्राह्मण ग्रन्थ हैं, जिनमें

अर्थात् उस परम पुरुष पदस्वरूप परमात्मा से ही अक्ष, साम, उग्र (अघर्ष) और यजुर्वेद उत्पन्न हुए । अथ प्रश्न यह है कि सृष्टि के भावि में परमात्मा ने वेदों के मन्त्र कैसे उत्पन्न किये । पृथ्वारण्यक उपनिषद् में लिखा है —

अथ महतो मूलम्ब विःबद्धिमत्स्वरावदोबद्धवेदाः सामरताम्बर्षाद्विरम्बः
 इन्द्रारण्यक

उस महामूल परमात्मा के निःश्वास से चारों वेद निकले । क्या परमात्मा ने श्वास छोड़ा था ? हाँ । किस प्रकार ? उसका ज्ञान ही उसका श्वास है । यह श्वास उसने सृष्टि के भावि में चार सृष्टियों के हृदय में छोड़ा था । ये चार सृष्टि पहले पहले सृष्टि में उत्पन्न हुए । उन्हीं चार सृष्टियों के द्वारा वेद प्रकट हुए । अतएव ब्राह्मण में लिखा है —

अन्तश्चामेदा चारोर्बन्धवेदा सृष्ट्यामवेदा ।

अथवा वा

अर्थात् अग्नि, वायु, मादित्य और अगिरा सृष्टि के हृदय में परमात्मा ने पहले पहले अमरा, अम्बु, यजुर्वेद, सामवेद, और अघर्षवेद का ज्ञान प्रकाशित किया । अपनी हृदय में इन चारों सृष्टियों ने परमात्मा का ज्ञान सुना, और इसा छिये वेदों का नाम 'भुक्ति' पड़ा ।

वेदों में ही परमात्मा ने अखिल मानवजाति के छिये धर्मका ज्ञान दिया है । फिर वेदों से ही अन्त्य सब ग्रन्थों में ज्ञान का विकास हुआ है । अर्थात् संसार के अन्त्य सब ग्रन्थ वेदों के बाद रचे गये हैं, और उन सब में वेदों के ज्ञान की ही मूल मूल प्रकार से व्याख्या की गई है ।

उपवेद

प्रत्येक वेद का एक एक उपवेद है—जैसे (१) ऋग्वेद का अथर्ववेद, जिसमें विज्ञान, कला-कौशल, कृषि, वाणिज्य, इत्यादि धन उत्पन्न करने के साधनों का वर्णन है। (२) यजुर्वेद का अथर्ववेद, जिसमें राजनीति, शास्त्र-अस्त्र की कला और युद्धविद्या का वर्णन है, (३) सामवेद का गान्धर्व वेद, जिसमें सर्गीत-शास्त्र का वर्णन है, (४) अथर्ववेद का आयुर्वेद, जिसमें वनस्पति, रसायन और शरीरशास्त्र इत्यादि का वर्णन है।

वेदाङ्ग

वेद के छे अंग हैं, जिनके नाम इस प्रकार हैं — शिक्षा, कल्प, व्याकरण, निरुक्त, छन्द, ज्योतिष। ये छे अङ्ग भी वेद की व्याख्या करते हैं।

वेदोपाङ्ग

छे अंगों की तरह वेद के छे उपाङ्ग भी हैं। उनके नाम ये हैं —(१) न्याय, गौतम ऋषि का बनाया हुआ, (२) वैशेषिक; कणाद ऋषि का रचा हुआ; (३) सांख्य, महर्षि कपिल का निर्मित किया हुआ (४) योग, मगवान् पतजलि का, (५) मीमांसा, महर्षि जैमिनि का, (६) वेदान्त, महर्षि वाट्स्यायण उपनाम वेदव्यास का रचा हुआ। वेद के इन्हीं छे उपाङ्गों को छे शास्त्र या पङ्दर्शन भी कहते हैं। इनमें इण्डर, जॉब और सृष्टि का तत्वविचार है। सब का परस्पर-सम्बन्ध और बन्ध-मोक्ष का उत्तम विचार है। यह भी सब वेद की ही व्याख्या करते हैं।

ब्राह्मण ग्रन्थ

वेदों की व्याख्या करनेवाले कुछ ब्राह्मण ग्रन्थ हैं, जिनमें

पैतरेय, शतपथ, साम, गोपथ, ये चार मुख्य ब्राह्मण-ग्रन्थ हैं इनमें ऋग्वेद ऋषि पशु, साम और यजुर्वेद के ऋषिकान्तर्गत की प्रधानता से व्याख्या की गई है। ज्ञानकाण्ड भी है।

उपनिषद्

उपनिषद् मुख्यतया ग्याण्ड हैं—ईरा, केन कठ, प्रसन्न मुद्गल, माण्डूक्य, पैतरेय, तीर्थीर्य छान्दोग्य बृहदारण्यक और श्वेताश्वतर। सब उपनिषद् प्रायः वेदोंके ज्ञानकाण्ड की ही प्रधानता से व्याख्या करती हैं।

स्मृति-ग्रन्थ

स्मृतिग्रन्थ मुख्य मुख्य अठारह हैं—मनु, याज्ञवल्क्य, अत्रि, विश्वामित्र, भारद्वाज, आंगिरस, यम, आपस्तम्ब, संख्य, काल्याण, बृहस्पति, पारशर, व्यास शंख, बृहस्पति, शतधातप, वसिष्ठ। ये अष्टादश स्मृतिपात्रें मिला मिली ऋषियोंकी रची हुईं अर्थात् नाम से प्रसिद्ध हैं। ये वेद के ऋषियोंकी अपने अपने मतानुसार, व्याख्या करती हैं। मनुस्मृति सब से प्राचीन और सर्वमान्य समझी जाती है।

पुराण

पुराण-ग्रन्थ भी मुख्यतया अठारह हैं। उनके नाम इस प्रकार हैं—ऋग्वेद, पद्य, विश्वामित्र, शिव भागवत, मारुत, मार्कण्डेय, अग्नि अथर्ववेद, ब्रह्मवैवर्त विंशति बाराह स्कन्ध, ब्रह्मसंहिता, कूर्म मत्स्य, गरुड और ब्रह्माण्डपुराण। सब पुराण प्रायः व्यासजी के रचे हुए माने जाते हैं। इनमें विद्योत्कर्ष इतिहास का वर्णन और दिव्यताओं की स्तुति है। बीच बीच में वेदों के ज्ञान का और उपासना काण्ड की व्याख्या भी मौजूद है।

काव्य-इतिहास

हिन्दू धर्म के दो बहुत बड़े महाकाव्य हैं—रामायण और महाभारत । इनको इतिहास भी कह सकते हैं । रामायण महर्षि वाल्मीकि और महाभारत महर्षि व्यास का रचा हुआ है । पहले काव्यमें मर्यादा-पुरुषोत्तम महाराजा श्रीरामचन्द्रजी का आदर्शचरित्र वर्णन किया गया है , और दूसरे में विशेषकर कौरवों-पांडवोंके युद्ध की कथा है । इसके अतिरिक्त उसमें और भी बहुत सा इतिहासिक वर्णन है । हिन्दू धर्म का छोटा, परन्तु अत्यन्त महत्वपूर्ण, धर्मग्रन्थ श्रीमद्भगवद्गोता भी महाभारत के ही अन्तर्गत है । यह महायोगेश्वर श्रीकृष्ण भगवान् का अर्जुन को बतलाया हुआ ज्ञानग्रन्थ है । महाभारत हिन्दुओं का बड़ा भारी धार्मिक ग्रन्थ है । यहाँ तक कि इसको पाँचवा वेद कहा गया है । इस ग्रन्थ में नीति और धर्म के सब तत्व, बड़ी ही सरलता के साथ, अनेक प्रसंगों के निमित्त से, बतला दिये गये हैं । एक विद्वान् ने कहा है —

भारते सर्ववेदार्यो भारतार्थश्च कृत्स्नश्च ।

गीतायामस्ति तेनेय सर्वशास्त्रमयो मता ॥

महाभारत में वेदों का सारा अर्थ आगया है , और महाभारत का सम्पूर्ण सार गीता में आ गया है । इस लिए गीता सब शास्त्रों का सग्रह मानी गई है ।

दूसरा खण्ड वर्णाश्रमधर्म

“स्वे स्वे कर्मण्यभिरतः संसिद्धिं लभते नरः”

गीता, अ० १८—४५ ।

चार वर्ण

हम हिन्दुओं में चार वर्ण पहले से ही माने गये हैं। ये वर्ण इस लिए माने गए हैं कि, जिससे चारों वर्ण अपने अपने धर्म या कर्त्तव्य का उचित रूप से पालन करते रहें। वेदों में चारों वर्णों का इस प्रकार वर्णन किया गया है —

ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीद् बाहू राजन्य कृत ।

उरु तदस्य यद्वैश्य पदभ्यां शूद्रो भजायत ॥

अर्थात् विराटरूप ईश्वर के चार अङ्ग हैं। ब्राह्मण मुख है। राजा लोग, अर्थात् क्षत्रिय, भुजा हैं। वैश्य शरीर का धड़ या जघा है, और शूद्र पैर हैं।

इस प्रकार से हमारे धर्म में चारों वर्णों के कर्त्तव्यों का दिग्दर्शन करा दिया गया है। मुख या शिरोभाग ज्ञानप्रधान है, इसलिए ब्राह्मणों का कर्त्तव्य है कि वे विद्या और ज्ञान के द्वारा सब वर्णों की सेवा करें। राजा लोग, अर्थात् क्षत्रिय, बल प्रधान हैं, इसलिए उनको उचित है कि, प्रजापालन और दुष्टों का दमन करके देशकी सेवा करें। वैश्य लोग धनप्रधान या व्यवसायप्रधान हैं, इसलिए उनको उचित है कि, जैसे शरीरका मध्यभाग भोजन पाकर सारे शरीर में उसका रस पहुँचा देता है, उसी प्रकार वैश्य लोग भी व्यवसाय-द्वारा धन कमाकर देश की सेवा में उसको लगायें। रहे शूद्र लोग, इनका कर्त्तव्य है कि, अपनी अन्य सेवाओं के द्वारा जनसमाज की सेवा करें।

अब ध्यान रखने की बात यह है कि, इन चारों वर्णों में कोई छोटा अथवा बड़ा नहीं है। सब अपने अपने कर्मों में श्रेष्ठ हैं।

कोई भी यदि अपने कर्म को नहीं करेगा, तो वह बोप का भारी होगा—बाहे दाहण हो या शूद्र। देश या अमरमात्र के लिए सब की समान ही भावस्थकता है। शरीर में से यदि कोई भी मांस न खे, मयबा निकम्मा हो जाय, तो वृद्धों का काम नहीं कर सकता। साध शरीर हा निकम्मा हो जायगा। इसी प्रकार चारों वर्णोंका भी हास है। यदि कोई कहे कि शूद्र छोटा है, तो यह उसकी बड़ी भारी मूढ़ है। क्योंकि शरीर यदि अपने पैरोंकी सेवा न करे, छापरबाही से काम से, मयबा उनको छुट दे, तो अपने ही पैरों कुन्हाड़ो मारने के समान होगा। देशको विधा बस, धर्म और धर्मसेवा चारों की समान ही भावस्थकता है। इन्ही चारों की समस्तुस्यता और स्वरिक भादर-भाव अब से इस धर्मप्रधान देशसे उठ गया, से यह देश परार्थीन होकर पीड़ित हो रहा है। सब कष्ट हैं। इसलिये चारों वर्णों को एक वृद्धों का सम्मान करती हुए, अपने अपने धर्म या कर्त्तव्य का पालन बराबर करती रहना चाहिए। हमारे धर्मग्रन्थों में चारों वर्णों के जो कर्त्तव्य बतलाये गये हैं, वे मोचे लिखे जाते हैं —

ब्राह्मण

मनु महापुत्र ने ब्राह्मण का कर्त्तव्य इस प्रकार बतलाया है —

अध्यापनमध्यायनं कर्म वाचनं तथा ।

शास्त्रं प्रतिपदइत्यैव ब्राह्मणावात्मकमप्यम् ॥

मनुस्मृति ।

स्वयं विद्या पढ़ना और वृद्धों को पढ़ाना, स्वयं पक करना वृद्धों को करना स्वयं इत्यादि ३ वृद्धों को पढ़ाना देना—ये

छै कर्म ब्राह्मण के हैं। परन्तु मनुजी ने एक जगह “प्रतिग्रह प्रत्यवर.” कहकर बतलाया है कि, दान लेना यद्यपि ब्राह्मण का कर्म अवश्य है, क्योंकि और कोई दान नहीं ले सकता; परन्तु यह ब्राह्मण के सब कर्मों से नीच कर्म है। अर्थात् दान ले करके दान देना जरूर चाहिए, अन्यथा उसका प्रायश्चित्त नहीं होगा, और इसी कारण दान लेने के कर्त्तव्य का नाम प्रतिग्रह रखा गया है।

श्रीमद्भगवद्गीता में कृष्ण भगवान् ने ब्राह्मण के कर्त्तव्य इस प्रकार बतलाये हैं —

शमो दानस्तप शौचं क्षान्तिरार्जवमेव च ।

ज्ञानं विज्ञानमास्तिक्यं ब्रह्मकर्म स्वभावजम् ॥

भगवद्गीता

अर्थात् १ शम—मन से बुरे काम की इच्छा भी न करना, और उसको अधर्म में प्रवृत्त न होने देना, २ दम—सब इन्द्रियों को बुरे काम से रोककर अच्छे काम में लगाना, ३ शौच—शरीर और मन को पवित्र रखना, ४ शान्ति—निन्दा-स्तुति, सुख-दुख, हानि-लाभ, जीवन-मरण, हर्ष-शोक, मान-अपमान, शीत उष्ण इत्यादि जितने द्वन्द्व हैं, सब में अपने मन को समतोल रखना, अर्थात् शान्ति, क्षमा सहनशीलता धारण करना, ५ आर्जव—कोमलता, सरलता, निरभिमानता धारण करना, ६ ज्ञान—विद्या पढ़ना-पढ़ाना, और बुद्धि-विवेक धारण करना, ७ विज्ञान—जीव, ईश्वर, सृष्टि, इत्यादि का सम्बन्ध विशेष रूप से जानकर ससार के हित में इनका उपयोग करना, ८ आस्तिक्य—ईश्वर और गुरुजनों की उपासना और सेवा-भक्ति करना।

ये सब प्राज्ञान के कर्तव्य हैं। यों तो ये सब कर्तव्य ऐसे हैं जिनको धारों बर्षों को अपने अपने अनुसार धारण करना चाहिये, परन्तु प्राज्ञान के लिए तो ये स्वामाधिक हैं। प्राज्ञान यदि हम कर्मों से ध्युत हो जाय, तो शास्नीय है।

क्षत्रिय

क्षत्रिय भर्षात् राजा के कर्तव्य मनु महाराज ने इस प्रकार कथ्यते हैं :—

प्रजायां राज्ञं दानमिन्द्राग्नेयमेव च ।

विन्देत्प्रसन्नचित्तं क्षत्रिकस्य समासृत्य ॥

मनुस्मृति ।

भर्षात् (१) न्याय से प्रजा की रक्षा करना, पहलपाठ छोड़कर भेषों का सत्कार और दुष्टों का तिरस्कार करना सब प्रकार से सब का यथायोग्य पालन करना, (२) प्रजा को विद्या-दान देना विजयाना सुपार्श्व का धन इत्यादि से सत्कार करना, (३) भस्मिन्नादि यज्ञ करना, वेदादि शास्त्रों का अध्ययन करना, (४) विषयीं में न फँसकर दया क्रितीन्द्रिय रहते हुए शरीर और मात्मा से परावान रहना, ये सब क्षत्रिय के कर्तव्य हैं।

इसके अलावा अपनी पीढी में क्षत्रिय के कर्तव्य इस प्रकार कथ्यते हैं —

शीर्षं तत्रो वलिर्गोत्रं पुत्रे वाप्यवशावस्य ।

दायनीशरथायस्य वाक्यं स्वयावस्य ॥

भारतगीता ।

भर्षात् (१) शीर्ष—सौकर्य-द्वारा शत्रुओं से भी भयसे मुक्त करने में मय न होना, (२) तेज—उज्वलता और दुष्टों पर भास्त्रक शक्ति, (३) पुत्रि—साहस, दृढ़ता, और धैर्य का धारण

वर्ण-भेद

अब यह देखना चाहिये कि यह वर्ण-भेद क्यों किया गया । क्या ईश्वर का यही हेतु था कि मनुष्य-जाति में फूट पड़ जाय, सब एक दूसरे से अपने को अलग समझकर—मिथ्या अभिमान में आकर—देश का सत्यानाश करें ? कृष्ण भगवान् ने स्वयं गीता में कहा है —

चातुर्वर्ण्यं मया सृष्टं गुणकर्मविभागशः ।

तस्य कर्तारमपि मा विद्ध्यकर्तारमन्ययम् ॥

अर्थात् गुण कर्मके विभाग से मैंने चारों वर्णों को बनाया है । यों तो मैं अविनाशी हूँ, अकर्ता हूँ, मुझे कोई जरूरत नहीं है कि इस पाखण्ड में पड़ूँ, लेकिन फिर भी सृष्टि के काम—राष्ट्र के काम—समुचित रूप से चलते रहें, इसी कारण मुझे कर्ता बनना पड़ा है ।

सो चारों वर्ण उस एक ही पिता के पुत्र हैं । उनमें भेद कैसा ? भविष्यपुराण में इसी का खुलासा किया गया है —

चत्वार एकस्य पितु सत्तारच ।

तेषा सतानां खलु जातिरेका ॥

एवं प्रजाना हि पितैक एव ।

पित्रैकभावान् न च जातिभेद ॥

भविष्यपुराण

अर्थात् चारों एक ही पिता के पुत्र हैं (सब राष्ट्र के रखवाले हैं) सब पुत्र एक ही जाति के हैं । जब सब एक ही पिता के पुत्र हैं, तब उनमें जाति-भेद कैसा ?

यही बात श्रीमद्भागवत पुराण में भी कही गई है --

प्राज्ञप्य क्षत्रिय और वैश्य की सेवा करना ही एक-मात्र दूत का कर्तव्य है।

मनुजी ने ठीक कहा है, परन्तु इससे यह नहीं समझ लेना चाहिए कि दूत तो हमारा वास या गुहाम है, हम बाह्ये जिस तरह उससे सेवा लेवें। वास्तव में सेवा-धर्म पढ़ा गहन है, और सब धर्मों से पवित्र है। जिस प्रकार अन्य वर्गों को अपने अपने कर्तव्यों में स्तम्भ, परन्तु जहाँ दूतों का सम्बन्ध आता है, वहाँ परस्पर ही उसी प्रकार दूत भी अपने कर्म में स्तम्भ है। यह अपने धर्म को समझकर सेवा करेगा, और अन्य वर्गों को चाहिए कि, वे भी अपने धर्म को ही समझकर उससे सेवा का कार्य लेवें। परस्पर एक दूसरे का भावर करें, क्योंकि दूत के सेवा-धर्म पर अन्य प्राज्ञप्य क्षत्रिय, वैश्य, शूद्रादि विजातियों का जीवन अवलम्बित है।

पुराणों में दूतों के कर्तव्य का और भी अधिक दृढ़तासा किया गया है। बाराहपुराण में दूत का कर्तव्य इस प्रकार कथनाया है —

धूमन् विद्युन्मृगा एवा जीवन्वात् मन्दः।

द्विपैत विविधैर्विद्यु विजातिदिग्जाचरत्॥

बाराहपुराण

अर्थात् दूत लोग वर्गों विजातियों का हित करते हुए उनकी सेवा करें, और शिष्यविद्या (कारीगरी विज्ञान) शूद्रादि भवेक कर्मों से अपनी आजीविका करें। सार्वत्र यह है कि दूत भी हमारे समाज का एक आवश्यक और शुद्ध अङ्ग है। इसके साथ यदि हम भावर का कर्ताव करेंगे तो वे भी हमारे गौरव को बढ़ाये बिना न रहेंगे।

अरे, चार तो वर्ण ही हैं—पाचवा अपनी मूर्खता और अज्ञानता से क्यों ले आये ! ससार में, गोघातक को छोड़कर, और कोई भी कार्य करनेवाला मनुष्य अस्पृश्य नहीं है। शूद्र तो हमारा अन्न है। उनको शौच से रहना सिपलाओ, स्वयं भी धर्म के अर्द्धों का धारण करो। ये आप ही धार्मिक बन जायेंगे। सब मिलकर अपने देश और धर्म के हित की ओर देखो। अपनी फूट को मिटाओ। शत्रुओं को उससे लाभ उठाने का मौका न दो।

चार आश्रम

साधारण तौर पर मनुष्य की अवस्था सौ वर्ण की मानी गई है। 'शतायुर्वे पुरुष' ब्राह्मण ग्रन्थोंका वचन है। महर्षियोंने इस सौ वर्ण की अवस्था को चार विभागों में विभाजित किया है। उन्हीं चार भागों को आश्रम कहते हैं। आश्रमों की आवश्यकता इस कारण से है, कि जिससे मनुष्य अपने इस लोक और परलोक के सब कर्त्तव्यों को नियमानुसार करे—ऐसा न हो कि एक ही प्रकार के कार्य में जिन्दगी भर लगा रहे। प्रत्येक आश्रम के कर्त्तव्य २०।२५ वर्ण में बांट दिये गये हैं। महाकवि कालिदास ने चारों आश्रमों के कर्त्तव्य सक्षिप्त रूप से, बड़ी सुन्दरता के साथ, एक श्लोक में बतला दिये हैं —

शैशवेऽभ्यस्तविद्याना यौवने विषयैपिणाम् ।

वार्धक्ये मुनिवृत्तीना योगेनान्ते तनुत्यजाम् ॥

प्रथम २५ वर्ण तक शैशवावस्था रहती है। इसमें विद्याध्ययन

एक एव पुरा वदा प्रपञ्चः सर्वबाहुमया ।

एवो नारायणो बान्धा मुक्तोऽभिवर्त्मन एव च ॥

श्रीमद्भागवत

अथात् पहले सिर्फ एक वेद था सम्पूर्ण साहित्य सिर्फ एक प्रपञ्च भीकार में ही भा जाता था, सिर्फ एक नारायण ईश्वर था एक ही अग्नि था, और एक ही बण था। इसके सिवाय और कोई मेव नहीं था। मनुष्यों में राज्यकार्य की सुविधा के छिद्र अथ धार कर्मों की कल्पना हुई, तब चार वर्ण बने। महा भाष्यमें भी यही कहा है।

व विद्येचोऽस्ति कर्षायां सर्वं प्राणमिदं जगत् ।

मयाना एवैवंप्रं हि कर्मभिर्वर्त्मतां गतम् ॥

महाभारत

अथात् वर्णों में कोई विद्येयता नहीं, सारा संसार परमात्मा का रथा हुआ है। कर्म के कारण से चार वर्णोंकी सृष्टि हुई है।

अब अधिक लिखना आवश्यक नहीं है। आजकल तो चार वर्णका अगह पाँच वर्ण तक हो गये हैं—और एक वर्ण अल्पज कहकर अल्पार्थ भी माला जाता है। यह बड़ा मारी पाप है। अन्य भा हजारों जातिमेव उत्पन्न हो गये हैं जिनसे राष्ट्र की एकता छिद्यमित्त हो गई है। राष्ट्र इससे छान उठाकर हमका और हमारे धर्म को और भी बरबाद कर रहे हैं। हम पूछते हैं कि यह पंचम वर्ण धीरे जातिपों के हजारों मेव, कहां से भाये ? यह सब हमारी मूर्खता और अज्ञानता का फल है। मनुजी ने कहा है—

प्राण्य इन्द्रियो वेसा क्वो कर्त्तं हिजाण्वा ।

एवं एकं प्राणित्वा तृषो वास्ति तु पंचमा ॥

मनु० ।

ब्राह्मण का कर्तव्य है कि वह ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, तीनों वर्णों के बालकों का क्रमशः ५, ६ और ७ वर्ष की अवस्था में उपनयन सस्कार कराके वेदारम्भ करा दे, शूद्रों को भी ब्रह्मचर्य द्वारा विद्याभ्यास करावे। उत्तम ब्रह्मचर्य ४८ वर्ष की अवस्था तक का होता है। इसको धारण करनेवाला आदित्य ब्रह्मचारी कहलाता है। इसके मुख पर सूर्य के समान कांति कलकती है। मध्यम ब्रह्मचर्य ४४ वर्ष की उम्र तक होता है, इसको रुद्र कहते हैं। यह ऐसा शक्तिशाली होता है, कि सज्जनों की दुष्टों से रक्षा करता है, और दुष्टों को दण्ड देकर खलाता है। निकृष्ट ब्रह्मचर्य २५ वर्ष तक की अवस्था का कहलाता है। इसको वसु कहते हैं। यह भी उत्तम गुणों को हृदय में धारण करता है। इसलिए आजकल कमसे कम २५ वर्ष की अवस्था तक पुरुषों को और १६ वर्षकी अवस्था तक स्त्रियोंको अखंड-वीर्य रहकर विद्याभ्यास अवश्य ही करना चाहिए। इसके बाद गृहस्थाश्रम को स्वीकार करना चाहिए।

बालक और बालिकाएँ अलग अलग अपने अपने गुरुकुलों में विद्याभ्यास करें। अर्थात् जब तक वे ब्रह्मचारी और ब्रह्मचारिणी रहें, तब तक परस्पर स्त्री-पुरुष का दर्शन, स्पर्शन, एकान्तसेवन, सम्भाषण, विषय-कथा, परस्पर क्रीड़ा, विषय का ध्यान, और परस्पर सग, इन आठ प्रकार के मैथुनो का त्याग करें। स्वप्न में भी वीर्य को न गिरने दे। जब विषय का ध्यान ही न करेंगे, तो स्वप्न में भी वीर्य कैसे गिरेगा। आजकल पाठशालाओं में बालकगण हस्तक्रिया इत्यादि से वीर्य को नष्ट करके किस प्रकार अपने जीवन को बरबाद करते हैं, सो बतलाने की आवश्यकता नहीं। वीर्य की रक्षा न करने से

करना चाहिए। दूसरी धीबनावस्था है। इसमें सांसारिक विषयों का कर्तव्य पाठन करना चाहिए। इसके बाद बुढ़ापा शुरू हो जाता है। इस अवस्था में मुक्तिवृत्तिसि रूढ़कर परमार्थ का मग्न करना चाहिए। इसके बाद मृत के २५ वर्षों में योगाभ्यास करने शरीर छोड़ना चाहिए। इस नियम से यदि जावन व्यतीत किया जायगा, तो मनुष्य-जीवनके चारों पुरुषार्थ अर्थात् धर्म धन्य काम, मोक्ष सद्म में सिद्ध हो सकेंगे।

ऋषियों ने इन चारों माधमोंके नाम इस प्रकार रखे हैं —
(१) ब्रह्मचर्य, (२) गृहस्थ, (३) वानप्रस्थ, (४) संन्यास। अब इन चारों माधमों का ऋषयः संक्षेपमें वर्णन किया जाता है—

ब्रह्मचर्य

विद्याभ्यास अथवा ईश्वर के सिद्ध जिस मठ का भाषण किया जाता है, उसे ब्रह्मचर्य कहते हैं। यह मठ साधारणतया पुरुषों को २५ वर्ष की अवस्था तक धीर तिस्यों को १३ वर्षकी अवस्था तक पालन करना चाहिए। यह नियम उन छात्रों के सिद्ध है, जो भगि ब्रह्मचर्य गृहस्थाधम में प्रवेश करना चाहते हैं—धीर जो जीवनपर्यन्त ब्रह्मचारी रहना चाहते हैं, उनकी यात्र भङ्ग है।

ब्रह्मचर्य का पास कर्तव्य यह है कि छप इन्द्रियां का संयम करने एक विद्याभ्यास में ही अपना पूरा ध्यान लगा दे। विशेषकर वीर्यकी रक्षा करते हुए छप विद्याओं का अभ्यस करे। धार्यरक्षा का महत्व भङ्ग एक पाठमें यथ्याया गया है। इसलिये यहाँ विद्याप लिखने की आवश्यकता नहीं है। यहाँ तो वास्तव में हम सिर्फ ब्रह्मचारियों के कर्तव्यों का थोड़ा सा वर्णन करेंगे।

नहीं होती, और न देशके लिए लाभकारी होती है, इसका कारण यही है कि उनमें कष्ट-सहिष्णुताका भाव नहीं होता, और न उनको सच्ची कार्यकारिणी विद्या ही पढ़ाई जाती है। सिर्फ पुस्तकी विद्या पढ़कर रोटियों की फिक्रमें पड़ जाते हैं। ऐसी विद्या का त्याग करके प्राचीन ऋषिमुनियों के उपदेश के अनुसार सच्ची विद्या का अभ्यास करना चाहिए। मनुजी ने ब्रह्मचारी के लिए निम्नलिखित नियमों के पालन करने का उपदेश दिया है —

वर्जयेन्मधुमासञ्च गन्ध माल्य रसान् स्त्रिय ।
 शुक्रानि यानि सर्वाणि प्राणिना चैव हिंसनम् ॥
 अभ्यगमजनं चाक्ष्णोहृषानच्छन्नधारणम् ।
 कामं क्रोधं च लोभं च नर्तनं गीतवादनम् ॥
 यूतं च जनवादं च परिवाद तथाऽनृतम् ।
 स्त्रीणां च प्रेक्षणालम्भमुपवातं परस्य च ।
 एक शयीत सर्वत्र न रेत स्फुन्दयेत्कचित् ।
 कामाद्धि स्फुन्दयन्तो हीनस्ति व्रतमात्मन ॥

मनु०

मद्य, मांस, इतर-फुल्लेला, माला, रस-स्वाद, स्त्री-संग, सब प्रकार की खटाई, प्राणियों को कष्ट देना, अगों का मर्दन, विना निमित्त उपस्थेन्द्रिय का स्पर्श, आखों में अजन, जूते और छाते का धारण, काम, क्रोध, लोभ, नाच, गाना, बजाना, जुआ, दूसरेकी बात कहना, किसीकी निन्दा, मिथ्याभाषण, स्त्रियोंकी ओर देखना, किसी का आश्रय चाहना, दूसरे को हानि, इत्यादि कुकर्मों को ब्रह्मचारी और ब्रह्मचारिणी सदैव त्यागे रहें। सदा अकेले सोवें। कभी वीर्यको स्खलित न करे। यदि वे कभी जान-

हैं हमारा सम्मान की ऐसी भण्डोयति हो रही है। हमारे देश से श्रुता-धीरता बढ़ हो गई है और सम्मान बिडबुड निर्धन तथा निष्कामी पैदा हार्ता है। मध्यापकों और गुरुओं का चाहिए कि वे स्वयं सदाचारी रहकर अपने शिष्यों को विद्वान् शूरवीर और निर्भय बनायें। उनको वीर्यवृद्धा का महत्त्व स्तम्भ समझात र्यें। मस्तु।

ब्रह्मचारियों को चाहिए कि वे ऐसा कोई कार्य न करें जिससे किसी को कष्ट हो। उत्थ का धारण करें। किसी की प्रिय वस्तु को छेने की इच्छा न करें। किसीसे कुछ न छें। वीर्य की रक्षा की भार विज्ञेय ध्यान हें। मन और शरीर का शुद्ध रख। सन्तोषवृत्ति धारण करें। सत्कार्यों में कष्ट सहने का भावत हासैं। परावर पढ़ते और अपने सहपाठियों का पढ़ाते र्यें। परमात्मा की मक्ति अपने हृदय से कमी न उठने हें। गुरु पर पूज्य प्रजा रखे। वृद्धों की सेवा भयस्य करती र्यें। परस्पर मधुर भाषण करें। एक दूसरे का हित चाहते र्यें। विद्यार्थीको सब प्रकारके सुख त्याग देन चाहिए। विदुषीतिमें कहा है—

अचारिना कुपो विद्या कुपो विद्यार्थिना इच्छम् ।

इच्छार्थी वा त्वद्विद्या विद्यार्थी वा त्वमेच्छाम् ॥

विदुषीति १

अथान् सुख चाहनेवाले का विद्या कहाँ, और विद्या चाहनेवाले को सुख कहाँ? (दानों में बड़ा भेद है) इसप्रिय जो सुख की परया करे, ता विद्या पढ़ना छाड़ दे, और यदि विद्या पढ़ने की चाह हो ता सुख का छाड़ दे।

आठवक के हमारे कामें और स्तुतों के विद्यार्थी, आ एत-भाराम में रहकर विद्या पढ़ते हैं, उनकी विद्या सफल

देने में कभी न चूको। श्रद्धा से, अश्रद्धा से, नाम के लिए, लज्जा के कारण, भय के कारण अथवा प्रतिज्ञा कर ली है, इसी कारण—मतलब, जिस तरह से हो, दो—देने में कभी न चूको। यदि कभी तुमको किसी कार्य में, अथवा किसी आचरण में, कोई शका हो, तो विचारशील, पक्षपातरहित, साधुमहात्मा, विद्वान्, दयालु, धर्मात्मा पुरुषों के आचरण को देखो; और जिस प्रकार उनका वर्ताव हो, वैसा ही वर्ताव तुम भी करो। यही आदेश है। यही उपदेश है। यही वेद-उपनिषद् की आज्ञा है। यही शिक्षा है। इसी को धारण करके अपना जीवन सुधारना चाहिए।

विद्यार्थियों और ब्रह्मचारियों के लिए इससे अधिक अमृत तुल्य शिक्षा और क्या हो सकती है। हमारे देश के बालक और युवा यदि इसी प्रकार की शिक्षा पर चलकर, २५ वर्ष की अवस्था तक, विद्याभ्ययन करके तब सप्ताह में प्रवेश किया करें, तो देश में फिर भी पहले की भांति स्वतन्त्रता आ सकती है। क्योंकि ब्रह्मचर्य आश्रम ही अन्य आश्रमों की जड़ है। इसकी ओर ध्यान न रहने से ही अगले अन्य तीनों आश्रमों की भी दुर्दशा हो रही है।

गृहस्थ

जिस प्रकार ब्रह्मचर्याश्रम सब आश्रमों की जड़ है, उसी प्रकार गृहस्थाश्रम सब आश्रमों का आश्रय-स्थान है। इस आश्रम को ऋषियों ने सब से श्रेष्ठ बतलाया है। महर्षि मनु ने इसका महत्व वर्णन करते हुए कहा है —

यथा नदी नदा सर्वे सागरे यान्ति संस्थितिम् ।

तथैवाश्रमिण सर्वे गृहस्थे यान्ति संस्थितिम् ॥

ब्रह्मकर धर्म को स्थापित कर देंगे, तो मात्रा ब्रह्मधर्म का स्थापना करेंगी।

यह मूर्ख मनु भी विद्यार्थियों के लिए ब्रह्म शिष्टा है। इसी प्रकार के नियमों का पालन करके जो स्त्री और पुरुष विद्याभ्यास करते हैं, वे विद्वान्, गुरुजोर, वैश्वदेव और पठप-कारी पत्रकर अपना मनुष्य-जीवन सार्थक करते हैं।

तैत्तिरीय उपनिषद् में गुरु के लिए भी लिखा हुआ है कि वह अपने शिष्यों को किस प्रकार का उपदेश करे। उसका सारांश नीचे दिया जाता है।

गुरु अपने शिष्यों और शिष्याओं को इस प्रकार का उपदेश करे —

तुम सदा सत्य बोलो। धर्म पर बसो। पढ़ने-पढ़ाने में कमी आरम्भ न करो। पूर्ण ब्रह्मधर्म से समस्त विद्यार्थों का भय पन करके अपने गुरुका उत्कार करो। और फिर गुरुस्थाभन में प्रवेश करके सत्सालोत्पादन भवश्य करो। सत्य में मूढ़ न करो। धर्म में भी कमी आरम्भ न करो। आरोग्यता की ओर ध्यान रखो। सावधानी कमी न छोड़ो। धन धान्य इत्यादि ऐश्वर्य की वृद्धि में कमी न चूको। पढ़ने-पढ़ानेका काम कमा न छोड़ो। छात्रों, विद्वानों और गुरुजनों की सेवा में न चूको। माता पिता आचार्य और धर्मपति की सेवा के समान पूजा करो। उनको समुप्य रखो। जो बड़े कार्य हैं, उन्हीं का सदा करो। बुरे कामों को छोड़ दो। और (गुरु कहता है) हमारे भी जो सुचरित्र हैं, धर्माचरण हैं, उन्हीं का तुम श्रेष्ठ करो, धीरों का नहीं। हम लोगों में जो श्रेष्ठ विद्वान् पुरुष हैं, उन्हीं के पास बैठो-उठो, और उन्हीं का विश्वास करो। दान

देने में कभी न चूको। श्रद्धा से, अश्रद्धा से, नाम के लिए, लज्जा के कारण, भय के कारण अथवा प्रतिज्ञा कर ली है, इसी कारण—मतलब, जिस तरह से हो, दो—देने में कभी न चूको। यदि कभी तुमको किसी कार्य में, अथवा किसी आचरण में, कोई शका हो, तो विचारशील, पक्षपातरहित, साधुमहात्मा, विद्वान्, दयालु, धर्मात्मा पुरुषों के आचरण को देखो, और जिस प्रकार उनका वर्ताव हो, वैसा ही वर्ताव तुम भी करो। यही आदेश है। यही उपदेश है। यही वेद-उपनिषद् की आज्ञा है। यही शिक्षा है। इसी को धारण करके अपना जीवन सुधारना चाहिए।

विद्यार्थियों और ब्रह्मचारियों के लिए इससे अधिक अमृत तुल्य शिक्षा और क्या हो सकती है। हमारे देश के बालक और युवा यदि इसी प्रकार की शिक्षा पर चलकर, २५ वर्ष की अवस्था तक, विद्याभ्ययन करके तब सप्तर में प्रवेश किया करें, तो देश में फिर भी पहले की भांति स्तम्भिता आ सकती है। क्योंकि ब्रह्मचर्य आश्रम ही अन्य आश्रमों की जड़ है। इसकी ओर ध्यान न रहने से ही अगले अन्य तीनों आश्रमों की भी दुर्दशा हो गयी है।

गृहस्थ

जिस प्रकार ब्रह्मचर्याश्रम सब आश्रमों की जड़ है, उसी प्रकार गृहस्थाश्रम सब आश्रमों का आश्रय-स्थान है। इस आश्रम को ऋषियों ने सब से श्रेष्ठ बतलाया है। महर्षि मनु ने इसका महत्व वर्णन करते हुए कहा है—

यथा नदी नदाः सर्वे सागरे यान्ति संस्थितिम् ।

तथैवाश्रमिण सर्वे गृहस्थे यान्ति संस्थितिम् ॥

पद्मा वायु समान्धित्व वर्तन्ते धर्मज्ञान्ता ।
 तथा गृहस्थसमान्धित्व वर्तन्ते धर्म भावना ॥
 पद्मात्स्योपजाभमितो ह्यनेवान्धेन चाम्बहम् ।
 गृहस्थेभ्य चार्त्तन्ते तस्मान्धेनाभमो गृही ॥
 ४ संवत्सरो प्रकलेन स्वर्गसङ्गन्निष्पत्ता ।
 तत्र चरन्त्या कित्वा बोधार्थो, पुर्बेन्द्रियो ॥

मनु०

अर्थात् जैसे सब नदी-नहर समुद्र में जाकर आश्रय पाते हैं, वही प्रकार सब आश्रमोंके छोड़ गृहस्थ आश्रम में आकर आश्रय पाते हैं ॥ १ ॥ जैसे वायु का आश्रय छेकर सारे प्राणी वर्तते हैं, वही प्रकार गृहस्थ का आश्रय छेकर सब आश्रम वर्तते हैं ॥ २ ॥ ऋषिचारी ज्ञानस्य और संन्यासी तीनों आश्रमोंवाले लोगों को गृहस्थ ही अपने दान भलादि से धारण करता है, इससे गृहस्थ ही सब आश्रमों में श्रेष्ठ अर्थात् पुरोत्तर है ॥ ३ ॥ इस छिपे जो मनुष्य मोक्ष कीर सांसारिक सब सुखों की इच्छा रखता हो उसको पड़े प्रयत्न के साथ गृहस्थाश्रम धारण करना चाहिए । क्योंकि यह आश्रम पुर्बेन्द्रिय-अर्थात् कमजोर लोगों के धारण करने योग्य नहीं है ॥ ४ ॥

महर्षि मनु का पिछला वाक्य आश्रमों के लोगों का जब समझ लेना चाहिए । क्योंकि यदि ऋषिपर्याश्रम का भण्डारी तरह से पावन नहीं किया है—अपने शरीर और मन को जब ब्रह्मानु नहीं बनाया है, और सांसारिक व्यवहारों का समुचित रूप से ध्यान का सम्पर्क तथा विद्याबन्ध, नहीं प्राप्त किया है तो गृहस्थ आश्रम के धारण करने में दुर्गति ही है । परती दशा में न तो शूर-वीर और बुद्धिमान्, सन्तान ही उत्पन्न हो सकते हैं, और न गृहस्थी का बौद्ध सन्तानकर अन्य आश्रम की सेवा

ही की जा सकती है। कमजोर कंधे इतना भारी बोझ कैसे सम्हाल सकते हैं।

इस लिए हमारे देश के सब नवयुवक और नवयुवतियों को पहले ब्रह्मचर्याश्रम का यथाविधि पालन करके, तब विवाह करके, गृहस्थाश्रम में प्रवेश करना चाहिए। विवाह करते समय इस बात का ध्यान रहे कि वर-वधू का जोड़ा ठीक रहे। दोनों सद्गुणी, विद्वान्, बलवान्, ब्रह्मचारी और गृहस्थों का भार सम्हालने योग्य हों। विवाह का मतलब इन्द्रिय-सुख नहीं है, किन्तु शूरवीर और परोपकारी सन्तान उत्पन्न करके देश का उपकार करना है। इस लिए जब पति-पत्नी दोनों सुयोग्य होंगे, तभी गृहस्थाश्रम में वे स्वयं सुखी रह सकेंगे, और अपने देश का उपकार भी कर सकेंगे। महर्षि मनु ने कहा है —

सन्तुष्टो भार्यया भर्ता भर्त्रा भाष्यो तथैव च ।

यस्मिन्नेव कुले नित्यं कल्याणं तत्र वैभ्रु वम् ॥

मनु०

अर्थात् जिस कुल में स्त्री से पुरुष और पुरुष से स्त्री सदा प्रसन्न रहती है, उसी कुलमें निश्चित रूप से कल्याण रहता है। वही कुल धन-दौलत, सुख-आनन्द, यश-नाम पाता है। और जहां दोनों में कलह और विरोध रहता है, वहां दुःखदरिद्रता और निन्दा निवास करती है। इस लिए विद्या, विनय, शील, रूप, आयु, बल, कुल, शरीर इत्यादि सब बातों का विचार करके ब्रह्मचारी और ब्रह्मचारिणियों का परस्पर विवाह होना चाहिए। अथर्ववेद में कहा है:—

ब्रह्मचर्येण कन्या युवानं विन्दते पतिम् ।

अथर्व०

अर्थात् कन्या भी यथाविधि ब्रह्मचर्य व्रत का पालन करके अर्थात् संपन्न से रहकर विद्याभ्यास करके—अपने योग्य युवा पतिके साथ विवाह करे। स्त्री को सोलह वर्ष के पहले और पुरुष को पचास वर्ष से पहले अपने रज और वीर्य को किसी दृष्टामें भी बाहर न निकलाने देना चाहिए। विवाह के बाद गर्भाधान संस्कार की अवस्था यही बतलाई गई है। शुभ्रुत में लिखा है :—

अनपोऽसत्सर्वाभामप्राक्ता पञ्चविंशत्सिम् ।

क्याचते सुमात् धर्मं वृद्धिस्यः स विपन्नः ॥

अर्थात् २५ वर्ष से कम उम्रवाला पुरुष यदि सोलह वर्ष से कम उम्रवाली स्त्री में गर्भाधान करता है, तो वह गर्भ फेटने ही निरपेक्ष नहीं रहता। अर्थात् गर्भपात हो जाता है, और यदि बच्चा पैदा भी होता है, तो अस्वी मर जाता है, और यदि जिन्दा भी रहता है, तो दुर्बलेन्द्रिय और पृथ्वी का मार होकर जीता है। मात्र-काल ब्रह्मचर्य का ठोक-ठीक पालन न होने के कारण हमारे देश की सन्तान की यही दशा हो रही है।

अस्तु। गृहस्थाश्रम में मात्र मनुष्य को धर्म के साथ, अपने अपने वर्णानुसार, कर्तव्यों का पालन करना चाहिए। गृहस्थी में रहकर भी पुरुषको ब्रह्मचारी रहना चाहिए। आप कहेंगे कि गृहस्थ कैसा ब्रह्मचारी? इस प्रश्न का उत्तर मनुजी ने दिया है—

अनुकलाभिम्यामी स्वात्मकारविरुद्धं कृत्वा ।

पर्वतं ब्रजेन्वैवां च्छु क्त्वा रतिभ्रमन्वा ॥

मिन्वास्वप्यायु बान्वाह शिपो राक्षिषु बर्जन्त् ।

ब्रह्मचर्येव भवति नत्र तत्रागमे क्वचि ॥

इसका साराश यह है कि, जो पुरुष सदा अपनी ही स्त्री से प्रसन्न रहकर ऋतुगामी होता है और गर्भ रहनेके बाद तथा सन्तान उत्पन्न होनेपर भी वच्चा जवतक माताका स्तन पान करता रहे तवतक स्त्री को वचाता है और गर्भ रहनेके बाद फिर स्त्री को वचाता है, वह गृहस्थ होकर भी ब्रह्मचारी ही के समान है। जितने ऋषिमुनि और महापुरुष गृहस्थाश्रमी हुए हैं, वे सब इसी प्रकार से रहते थे। पुरुषों को अपने घर में स्त्रियों के साथ कैसा वर्त्ताव करना चाहिए, इस विषय में महर्षि मनु का उपदेश अमूल्य है —

पितृभिर्घ्रांतृभिश्चैता पतिभिर्देवैस्त्वया ।

पूज्या भूपयितव्याश्च बहुकल्याणमीच्छभि ॥

यत्र नार्यस्तु पूज्यन्ते रमन्ते तत्र देवता ।

यत्रैतास्तु न पूज्यन्ते सर्वास्तत्राऽफला क्रिया ॥

शोचन्ति जामयो यत्र विनश्यत्याशु तत्कुलम् ।

न शोचन्ति तु यत्रैता वर्द्धते तद्धि सम्पदा ॥

तस्मादेता सदा पूज्या भूषणाच्छादनाशनैः ।

भूतिकामैर्नरैर्नित्यं सत्कारेपूस्वेषु च ॥

मनु०

अर्थात् जो पिता, भाई, पति और देवर अपने कुल का सुन्दर कल्याण चाहते हो, वे अपनी लड़कियों, बहिनों, पत्नियों और भौजाइयों को सत्कारपूर्वक, भूषणादि सब प्रकार से, प्रसन्न रखें, क्योंकि जहाँ स्त्रिया प्रसन्न रखी जाती हैं, वहा देवता रमते हैं—सब प्रकार से सुख रहता है, और जहा वे प्रसन्न नहीं रखी जाती वहा कोई काम सफल नहीं होता। जिस कुल में स्त्रिया दुखी रहती हैं, वह कुल शीघ्र ही नाश हो जाता है, और जहा वे सुखी रहती हैं, वहा सुखसम्पदा बढ़ती रहती है। इसलिए

जा लोग अपनी घर का देखभाल चाहते हैं, उनको उचित है कि, वे बस्त्र-भ्राम्युषण और भोजन इत्यादि से इनको सर्वैय प्रसन्न रहें। विधि-स्पोहार और उत्सवों पर इनका बास तीर पर उत्कार किया करें।

मनुजी को इस शिक्षा को प्रत्येक मनुष्य गाँठ में बाँध ले, तो उसका कल्याण क्यों न हो ?

स्त्रियों का कर्तव्य भी मनुजी ने बहुत सुन्दर बतलाया है। माय कहते हैं—

वदि हि स्त्री व रोषेव युवाकम्ब प्रमोदयेत् ।

धर्मोदात्तुना पुंसा प्रकम्ब न प्रवर्षते ॥

स्त्रियां तु रोषमावाचां सर्वं व्योषते कुम्बम् ।

ऊनां त्वरोषमावाचां स्तुतिव व रोषते ॥

म्बु

अर्थात् यदि स्त्री अपनी पति से प्रेम न करेगी, उसको प्रसन्न व रक्षेगी तो कुम्ब भीर शोकके मारे उसका मन उच्छसित न होगा, भीर न काम उत्पन्न होगा। (येही ही दृशा में पुस्त्रोंका क्लिप्त स्त्रियोंसे इट जाता है, भीर कोई कोई पुस्त्र्य तुराचारी भी हो जाते हैं) स्त्रियों के स्वर्ण प्रसन्न रहने—भीर सब के प्रसन्न रहने—से ही सब घर-भर प्रसन्न रहता है, भीर उनकी अप्रसन्नता में सब दुःखदायक मान्दूम होता है। इसलिये मनुजी कहते हैं कि —

सदा प्रसन्नया ध्यात्वा पूरुषसर्वेषु कृणा ।

कर्मण्युदोन्नतया नये चासुकरुष्या ॥

म्बु

स्त्री को सदा प्रसन्न रहना चाहिये, भीर घर का काम लूब दस्तापूर्वक करना चाहिये। सब सम्मान उहाँ का उहाँ सकार

के साथ, रखना चाहिए, और खर्च हाथ सम्हालकर करना चाहिए।

स्त्रियों के विगाडने के छै दूषण मनुजी ने बतलाये हैं, उनसे स्त्रियों को बचना चाहिए। पुरुषों को उचित है कि इन दूषणों में अपने घर की स्त्रियों को न फँसने दें —

पानं दुर्जनसंसर्गं पत्या च विरहोऽनम् ।

स्वप्नोन्मोहवासश्च नारीसन्दूषणानि पद् ॥

मनु०

अर्थात् मद्य, भङ्ग, इत्यादि मादक द्रव्यों का पीना, दुष्टपुरुषों का संग, पतिवियोग, अकेले जहाँ-तहाँ पाखण्डी साधुसन्तों के दर्शन के मिस से घूमते रहना, तथा पराये घर में जाकर शयन करना, ये छै दूषण स्त्रियों को विगाडनेवाले हैं। स्त्री, और पुरुषों को भी, इनसे बचना चाहिए।

मनुष्य के धर्म-कर्तव्य इस पुस्तक में जगह जगह बतलाये गये हैं। उनमें से अधिकांश गृहस्थ के लिए ही हैं। इस लिए यहाँ विशेष लिखने की आवश्यकता नहीं। एक कवि ने गृह-स्थाश्रम की धन्यता का वर्णन करते हुए एक श्लोक कहा है, उसको लिख देना पर्याप्त होगा —

सानन्तं सदनं सुताश्च सुधियं कान्ता न दुर्भाषिणी ।

सन्मित्रं सुधनं स्वयोपितिरविश्वाज्ञापरा सेवक ॥

आतिथ्यं शिवपूजनं प्रतिदिनं मिष्टान्नपानं गृहे ।

साधो संगमुपासते हि सततं धन्यो गृहस्थाश्रम ॥

अर्थात् आनन्दमयी घर है, पुत्र पुत्री इत्यादि बुद्धिमान् हैं, स्त्री मधुरभाषिणी है, अच्छे अच्छे मित्र हैं, सुन्दर धन-दौलत है, अपनी ही स्त्री से, और अपने पुरुष से, प्रीति है, अर्थात्

स्त्री-पुरुष ध्यनिबारी नहीं है, नौकर लोग धावाकारी है, भविष्य धर्म्यागत का निरूप सत्कार होता रहता है पद्मेम्बर की मक्ति में सब समे हैं, सुन्दर सुन्दर भोजन खाते खिलाते है, सामुग्री और पिद्धानी का सस्त्रंग करके सर्वेप उनसे सुन्दर उपदेश ग्रहण करते रहते है। पेसा जो गृहस्थाधम है, उसको धर्म्य है। यही स्वर्ग है। प्रत्येक गृहस्थ का उपर्युक्त कर्तव्य पाछन करके अपनी गृहस्थी को स्वर्गधाम बनाता चाहिए।

धानप्रस्थ

गृहस्थाधम सब धाधमों का भाधपदाता है परन्तु यही तक मनुष्य का कर्तव्य समाप्त नहीं है। इसके बाद वाम्प्रस्थ धीर संन्यास, हो धाधम धीर है, जिनमें मनुष्य को बगछे ऊम की तैयारी विद्येय रूप से करनी चाहिए। परोपकार करते हुए ईश्वर का बखण्ड विस्तन करती रहना ही मनुष्य के उत्तरार्ध जीवन का कर्तव्य है। इसके बिना उत्तका जीवन सार्थक नहीं हो सकता। उत्तपय ब्राह्मण में कहा है —

ब्रह्मचोभ्यं समाप्तं पृथी मरेत् ।

पृथी पृथा ली मरेत् ।

ली पृथा प्रमेत् ॥

धर्म्य भाधम

धर्मान् ब्रह्मचर्यं भाधम को समाप्त करके गृहस्थाधम धारण करो गृहस्थाधम का कर्तव्य करके, अङ्गुल को बडी जाधो, धीर अङ्गुल में बलने के बाद धर्ममें परिमार्जक संन्यासी बनो। वाम्प्रस्थ धाधम सब ब्रह्मण करना चाहिए, इस विषय में मनुजी कहते है—

गृहस्थस्तु यदा पश्येद्वलीपलितमात्मन ।

अपत्यस्यैव चापत्यं तदारण्य समाश्रयेत् ॥

मनु०

अर्थात् गृहस्थ जब देखे कि, हमारे बाल पक गये, और शरीर की खाल ढीली पडने लगी, तथा सन्तान के भी सन्तान (नाती-नातिन) हो चुको, तब वह घर छोड़कर वन में जावे, और वहाँ वानप्रस्थ के नियमों से रहे। वे नियम मनुजी ने इस प्रकार बतलाये हैं :-

संत्यज्य ग्राम्यमाहारं सर्वं चैव परिच्छदम् ।

पुत्रेषु भार्यां नि क्षिप्य वनं गच्छेत्सहैव वा ॥

अग्निहोत्रं समादाय गृह्य चाग्निपरिच्छदम् ।

ग्रामादरण्यं नि सृत्य निवसेन्नियतेन्द्रिय ॥

मुन्यन्नेर्विधिर्वैमैष्यै शाकमूलफलेन वा ।

एतानेव महायज्ञान्निर्वपेद्विधिपूर्वकम् ॥

मनुस्मृति ।

घर और गाँव के सब उत्तमोत्तम भोजनों और वस्त्रों को छोड़कर, स्त्री को पुत्रों के पास रखकर, अथवा यदि सम्भव हो, तो अपने साथ लेकर, वन में चला जाय। वहाँ अग्निहोत्र इत्यादि धर्मकर्मों को करते हुए, इन्द्रियों को अपने वश में रखते हुए, निवास करे। पसाई के चावल, रामदाना, नाना प्रकार के शाक, फल, मूल, इत्यादि फलाहारी पदार्थों से पचमहायज्ञों को करे, और यज्ञों से बचा हुआ पदार्थ स्वयं सेवन करके मुनिवृत्ति से रहे। परमात्मा का सदैव चिन्तन करता रहे।

इसके सिवाय वानप्रस्थ के और भी कुछ कर्तव्य हैं, और वे हैं परोपकार-सम्बन्धी, क्योंकि परोपकार मनुष्य से किसी

माधम में भी छूटता नहीं है। महर्षि प्रभु कहते हैं —

स्वाध्याये निश्चिन्तया स्वात्मतो मैत्रं समाहितम् ।

इति निश्चिन्तयादाता सर्वभूतानुत्थमम् ॥

अथ च उवाचैव ऋषापी वराहम् ।

धारणेनममात्रेण वृद्धमूढनिष्ठेभ्यम् ॥

प्रभु

स्वाध्याय, अर्थात् पढ़ने-पढ़ाने में सदा लगा रहता है। इन्द्रियों और मन को सब प्रकार जीतकर अपनी आत्मा को परा में कर लेता है। संसार का मित्र बन जाता है। इन्द्रियों को चारों ओर से जीतकर ईश्वर और संसार के हित में लगा देता है। विद्यादानादि से अंगण के निवासियों का हित करता है, और ग्राम के जिन लोगों से सम्पर्क रहता है, उनको भी विद्या दानादि से काम पहुँचाता है। सब प्राणियों पर दया करता है। अपने सुख के लिए कोई भी प्रयत्न नहीं करता। प्रवृत्तियों का धारण करता है। अर्थात् यदि अपनी स्त्री भी साथ में रहती है, तो उससे भी कोई काम रोपा नहीं करता। पृथ्वी पर सोता है। किसी से मोह-भ्रमता नहीं रहता। सब को समान दृष्टि से देखता है। ब्रह्म के नीचे कोपड़ी में रहता है।

मुष्ककोपनिषद् में बालप्रस्थ आश्रम धारण करनेवाले के लिए कहा गया है —

उवाचैव मे ब्रह्मण्यत्कामे बाल्यं विद्विषो नैवकर्मो वरुण ।

सर्वज्ञानं ते विद्वान् प्रबाल्य वराहम् ॥

मुष्ककोपनिषद् ।

अर्थात् जो शाल्य विद्वान् लोग स्वध्यायानुष्ठान करते हुए, स्वयं ब्रह्म सबकुछ परोपकार करते हुए, मित्रता से अपना निर्बाह करते हुए, मन में रहते हैं, वे निमोह होकर, प्राणधार से उस

परम पुरुष, अविनाशी परमात्मा को प्राप्त करके आनन्दित होते हैं।

आजकल प्रायः लोग गृहस्थाश्रम में ही बेतरह फँसे हुए मृत्यु को प्राप्त होते हैं—निश्चिन्त होकर परोपकार और ईश्वर-चिन्तन में अपना कुछ भी समय नहीं देते। इससे पुनर्जन्म में उनको आनन्द प्राप्त नहीं होता। इसी लिए महर्षियों ने गृहस्थ के बाद दो आश्रमों का विधान करके—आधी आयु परोपकार और ईश्वर-चिन्तन में बिताने का आदेश करके—मनुष्य की परम उन्नति का द्वार खोल दिया है। सब लोगों को इस आदेश पर चलकर लोक-परलोक सुधारना चाहिए।

संन्यास

यह मनुष्य का अन्त का आश्रम है। इसके विषय में महर्षि मनु कहते हैं—

वनेषु च विद्वत्पैवं तृतीयं भागमायुष ।

चतुर्थमायुषो भागं त्यक्त्वा सङ्गान् परिव्रजेत् ॥

मनु०

अर्थात् आयु का तीसरा भाग वन में व्यतीत करने के बाद जब चतुर्थ भाग शुरू हो, तब वन को भी छोड़ देवे; और सर्वसङ्ग-परित्याग करके—यदि स्त्री साथ में हो, तो उसको भी छोड़कर—परिव्राजक बन जावे। यों तो परिव्राजक बननेके लिए कोई समय नहीं है, जब पूर्ण वैराग्य प्राप्त हो जाय, तभी वह संन्यासी हो सकता है। ब्राह्मण ग्रन्थों का ऐसा ही मत है.—

यदहरेव विरजेत्तदहरेव प्रव्रजेद्वानाद्वा गृहाद्वा ब्रह्मर्ष्यादेव प्रव्रजेत् ।

अर्थात् जिस दिन वैराग्य प्राप्त हो जाय, उसी दिन—चाहे वह वन में हो चाहे घर में हो—संन्यास ले सकता है—ब्रह्मचर्य

भाष्य में भी दृष्टता नहीं है। महर्षि मनु कहते हैं —

स्वाध्याये विद्वत्पुत्रो स्वाद्यन्तो मेव समहितः ।

दाता किरणमवादाता चर्षभृतानुचरन्ध ॥

भयन्तः उवाचैवु मद्यपारी वराहमः ।

कारनेष्वममरचैव वृद्धमूढनिष्ठैः ॥

मनु

स्वाध्याय, अर्थात् पढ़ने-पढ़ाने में सदा लगा रहता है। इन्द्रियों और मन को सब प्रकार जीतकर अपनी भावना को कष्ट में कर देता है। संसार का मित्र बन जाता है। इन्द्रियों को बाधें और से जीतकर ईश्वर और संसार के हित में लगा देता है। विद्यादानादि से अंगक के निवासियों का हित करता है, और ग्राम के जिन लोगों से सम्पर्क रहता है, उनको भी विद्या दानादि से लाभ पहुंचाता है। सब प्राणियों पर दया करता है। अपने सुख के छिप कोई भी प्रयत्न नहीं करता। प्रद्वयव्ययत का धारण करता है। अर्थात् यदि अपनी स्त्री भी साथ में रखती है, तो उससे भी कोई काम बेघा नहीं करता। पृथ्वी पर सोता है। बिस्ती से मोह-ममता नहीं रखता। सब को समान दृष्टि से देखता है। वृक्ष के नीचे श्रोपड़ी में रहता है।

मुच्यन्तोपनिषद् में ब्रह्मस्य भाष्य धारण करनेवाले के छिप कथनाया गया है —

कस्यचिद् वे इत् कस्यचिद्वरान्ने ब्रह्मा विद्मो वैश्वकर्मा वरन्तः ।

सुवर्गादिषु ते विद्या प्रदान्ति क्वाञ्चुः स पुरतो ब्रह्मवत्समा ॥

मुच्यन्तोपनिषद् ।

अर्थात् जो शान्त विद्वान् शीघ्र सत्कर्मनुष्ठान करते हुए, स्वर्ग कष्ट सहकर परोपकार करते हुए, मित्रा से अपना निर्वाह करते हुए, मन में रहते हैं, वे निमेष होकर, प्राणहार से, उस

परम पुरुष, अविनाशी परमात्मा को प्राप्त करके आनन्दित होते हैं।

आजकल प्रायः लोग गृहस्थाश्रम में ही बेतरह फँसे हुए मृत्यु को प्राप्त होते हैं—निश्चिन्त होकर परोपकार और ईश्वर-चिन्तन में अपना कुछ भी समय नहीं देते। इससे पुनर्जन्म में उनको आनन्द प्राप्त नहीं होता। इसी लिए महर्षियों ने गृहस्थ के बाद दो आश्रमों का विधान करके—आधी आयु परोपकार और ईश्वर-चिन्तन में बिताने का आदेश करके—मनुष्य की परम उन्नति का द्वार खोल दिया है। सब लोगों को इस आदेश पर चलकर लोक-परलोक सुधारना चाहिए।

संन्यास

यह मनुष्य का अन्त का आश्रम है। इसके विषय में महर्षि मनु कहते हैं —

वनेषु च विद्वत्यैवं तृतीयं भागमायुष ।

चतुर्थमायुषो भागं त्यक्त्वा सङ्गान् परिव्रजेत् ॥

मनु०

अर्थात् आयु का तीसरा भाग वन में व्यतीत करने के बाद जब चतुर्थ भाग शुरू हो, तब वन को भी छोड़ देवे, और सर्वसङ्ग-परित्याग करके—यदि स्त्री साथ में हो, तो उसको भी छोड़कर—परिव्राजक बन जावे। यों तो परिव्राजक बननेके लिए कोई समय नहीं है, जब पूर्ण वैराग्य प्राप्त हो जाय, तभी वह संन्यासी हो सकता है। ब्राह्मण ग्रन्थों का ऐसा ही मत है —

पदहरेषु विरजेत्तदहरेषु प्रव्रजेद्धानाद्वा गृहाद्वा ब्रह्मवयां देव प्रव्रजेत् ।

अर्थात् जिस दिन वैराग्य प्राप्त हो जाय, उसी दिन—चाहे वह वन में हो चाहे घर में हो—संन्यास ले सकता है—ब्रह्मचर्य

भाष्म से ही संन्यास छे सकता है जैसा कि स्वामी शंकराचार्य स्वामी दयानन्द इत्यादि न किया। परन्तु सदा वैराग्य होना हर हास्य में आवश्यक है। यह नहीं कि भाङ्ग-कण्ड के बाधन मात्र साधु-संन्यासियों की तरह गृहस्था का भाण्डप हो जाय—उन्को ठगकर पड़ी-पड़ी सम्पत्तियाँ एकत्र करे—भोग-बिछास में पड़ा रहे, मद्यमादोरो धौर नुदाबार में एकड़ा जाय। इस प्रकार के संन्यासियों ने ही भारत का नाश कर दिया है। इनको परमात्मा प्राप्त नहीं हो सकता। कठोपनिषद् में कहा है :—

वाचित्ये दुश्चरितान्नाशान्त्ये वासनादिवः ।

नाशान्त्यमान्तो वासि प्र्यायेयैकान्पुत्रात् ।

४२०

अर्थात् जिनहों न नुदाबार इत्यादि बुरे काम नहीं छोड़े हैं, जिनका मन और इन्द्रियाँ शान्त नहीं हुई हैं, जिनकी भात्मा ईश्वर और परोपकार में नहीं छगी है, जिनका बिसा सदा विषयाँ में लगा रहता है, वे संन्यास छेकर भी परमात्मा को प्राप्त नहीं कर सकते ।

इस छिप संन्यासी को उचित है कि, अपनी वाणी और मन को अधर्मसे रोककर ज्ञान और भात्मा में लगावे, धीरे धीरे उस ज्ञान और भात्मा को एक में करके—अध्यात्मज्ञान से—इस शान्तदय परमात्मा में स्थिर करे। यही योग है—योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः । अर्थात् सब विषयों से चित्त को बँधकर एक परमात्मा और परोपकार में उसको स्थिर करना ही योग है। योगी और संन्यासी में कोई भेद नहीं है। गीता के छठवें अध्याय में अर्जुन छप्य ने संन्यासी और योगीके अन्तर तथा उसके कर्तव्य विस्तारपूर्वक बतलाय है। यहाँ पर विस्तार

भय से हम विशेष नहीं लिख सकते। तथापि निम्नलिखित श्लोक से कुछ कुछ उसका आभास मिल जायगा —

अनाश्रित कर्मफलं कार्यं कर्म करोति य ।

स संन्यासी च योगी च न निरमिर्न चाक्रिय ॥

भगवद्गीता ।

अर्थात् कर्म-फल का आश्रय छोड़कर जो महात्मा सब धार्मिक कर्मों को बराबर करता रहता है, वही संन्यासी है, और वही योगी है। जो लोग कहते हैं कि, अब तो हम संन्यासी हो गये, अब हमको कोई कर्त्तव्य नहीं रह गया—अग्निहोत्रादि धर्मकार्यों से अब अपने रामको क्या मतलब है। ऐसा कहने-वाले साधु-संन्यासी भगवान् कृष्ण के उपर्युक्त कथन का मनन करें। भगवान् कहते हैं कि, परोपकारादि सब धार्मिक कार्य संन्यासी को भी करना चाहिए, परन्तु उसके फल में आसक्ति न रखना चाहिए। बिलकुल अकर्मण्य बनकर, अग्निहोत्रादि धर्मकार्यों को छोड़कर, बैठनेवाला मनुष्य संन्यासी कदापि नहीं हो सकता।

संन्यासी के लिए अपना कुछ नहीं रहता। सारा ससार उसको ईश्वरमय दिखलाई देता है, और वह जो कुछ करता है, ईश्वरप्रीत्यर्थ करता है। सब प्रकार की सासारिक कामनाओं को वह छोड़ देता है। शतपथ ब्राह्मण में लिखा है —

पुत्रैपणायाश्च वित्तैपणायाश्च लोकैपणायाश्च व्युत्थायाथम्भिक्षाचर्यं चरन्ति ।

शतपथ ब्राह्मण

अर्थात् संन्यासी लोग स्त्रीपुत्रादि का मोह छोड़ देते हैं, धन की उनको कोई परवा नहीं रहती, यश की उनको चाह नहीं

रखती—य सबसंगपट्टियाग करके, मिश्रात्म कण्ठे हुए, रात दिन मोक्ष-साधन में लगी रहती है।

महर्षि मनु ने भी अपनी मनुस्मृति में संन्यासी के रहन सहन और कर्तव्यों का वर्णन करते हुए लिखा है—

स्वच्छेऽसक्तमन्त्राः शशी दृष्टी कुञ्जमन्वात् ।
 विश्वेभ्यस्ततो विभवं सर्वमृताभ्यपीडयत् ॥
 मृदुप्लवत्तं च प्रतिदुष्पेदाद्भुप्यः कुमलं वरत् ।
 सप्रशारावकीर्णं च न वाचनदृशं वरत् ॥
 दृष्टिपूर्तं न्यतेत्यात् कञ्चनं जलं पित्तम् ।
 सत्यपूर्वं वरदात्तं मन्त्राणां समाचरेत् ॥
 भविष्येभ्यश्चासङ्गं वैदिकैश्चैव कर्मभिः ॥
 जलचारैश्चोपैस्त्राचकम्पीह जलवत् ॥
 श्लेष विविधा ज्ञानोत्पत्त्या संगत् सर्वैः ज्ञानैः ।
 सर्वज्ञानविभिक्षु का कर्मण्येवावधिष्यते ॥

मनु ।

अर्थात् केश, नख, दाढ़ी मूत्र इत्यादि छेदन कर्ताके सुन्दर पात्र वृण्ड और कुसुम इत्यादि से रंगि हुए वस्त्र धारण करे, और फिर सब प्राथियों को सुख दैते हुए, स्वयं भी भ्रान्तस्वल्प होकर, विचरण किया करे। जब कहीं उपदेश अपवा संवात् इत्यादि में कोई संन्यासी पर क्रोध करे, माधवा उसकी मित्वा करे, तो संन्यासी को उचित है कि, माय स्वयं बड़े में उसके ऊपर क्रोध न करे, बल्कि मर्यादा शान्ति धारण करके उसके कल्याण का ही उपदेश करे, और एक सुख के, दो वासिका के, दो भाँकों के और दो काकों के छिद्रों में किडरी हुई—सप्रशार वकीर्ण—दाढ़ी को कमी, किसी वृथा में भी मिथ्या बोलने में न लगावे। संन्यासी जब मार्ग में लड़े, एक हथैर-उपर न देख

कर नीचे पृथ्वी पर दृष्टि रखकर चले। सदा वस्त्र से छानकर जल पीवे। सदा सत्य से पवित्र वाणी बोले। सदा मन से विवेक करके, सत्य का ग्रहण करके और असत्य का त्याग करके आचरण करे। किसी प्राणी को कभी कष्ट न दे, न किसी की हिंसा करे, इन्द्रियों के सब विषयों को त्याग दे, वेद में जो धार्मिक कर्म, विद्यादान, परोपकार, अग्निहोत्रादि बतलाये गये हैं, उनका यथाविधि आचरण करे, खूब कठोर तपश्चर्या धारण करे—अर्थात् सत्कर्मों के करनेमें खूब कष्ट उठावे, लेकिन दूसरे किसी को उसके कारण कष्ट न होने पावे। इस प्रकार आचरण करके सन्यासी परमपद को पा सकता है। इस प्रकार धीरे धीरे सब सांगदोषों को छोड़, हर्ष-शोक, सुख-दुःख, हानिलाभ, जीवन-मरण, यश-अपयश, मान-अपमान, निन्दा-स्तुति, शीत-उष्ण, भूख-प्यास इत्यादि जितने द्वन्द्व हैं, उनसे मुक्त होकर, सन्यासी परमात्मा परब्रह्ममें स्थित होता है।

सन्यासी के ऊपर भी बड़ी जिम्मेदारी है—वह स्वयं अपने लिए मोक्ष का आचरण करे, और अपने ऊपर वाले अन्य तीनों आश्रमों से भी धर्माचरण करावे, सब के साशयों को दूर करे। सत्य उपदेश से सबको सन्मार्ग पर चलावे। धर्म के दश लक्षण जो मनुजी ने बतलाये हैं, और जिनका इस पुस्तक में अन्यत्र वर्णन हो चुका है, वे चारों वर्णों और चारों आश्रमों के लिए बराबर आचरणीय हैं। मनुजीने इस विषयमें कहा है—

चतुर्भिरपि चैवैतैर्नित्यमाश्रमिभिर्द्विजैः ।

दशलक्षणको धर्म सेवित्कन्य प्रयत्नतः ॥

मनु०

अर्थात् धैर्य, क्षमा, दम, अस्तेय, शौच, इन्द्रिय-निग्रह, बुद्धि-विवेक, विद्या, सत्य, अक्रोध, इन दस लक्षणों से पूर्ण धर्म का

भास्वरण प्रत्यस्त प्रयत्न के साथ चारों ही बर्णों और भास्वर्णों को करता चाहिए। संन्यास का यहाँ फल यह है कि स्वर्ग अर्थात् रूप से परमात्मा में विलीन रहने हुए, सारे संसार को इस धर्म पर अलग का उपदेश करे।

पांच महायज्ञ

भाषे हिन्दू जाति के नियम के धार्मिक कृत्यों में पांच महायज्ञ मुख्य हैं। मनु महाराज ने अपनी स्मृतिके तीसरे अध्याय में लिखा है कि प्रत्येक गृहस्थ से पांच प्रकार की हिंसाएँ प्रति दिन अवायास होती रहनी हैं—(१) बूझा (२) बखी (३) भावू (४) धाकड़ी-भूख और (५) बड़ा इत्यादि के द्वारा। सो इन पापों के प्रायश्चित्त के लिए महर्षियों ने पांच महायज्ञों का विधान किया है। महर्षि मनु ने लिखा है कि जो गृहस्थ पांच महायज्ञों का अयत्नपूर्वक त्याग नहीं करता वह पृथ में बसता हुआ भी हिंसा के दोषों में लिप्त नहीं होता। ये पांच महायज्ञ इस प्रकार हैं—

अग्निष्व देव्यश्च भूतयश्च च सर्वदा ।

पितृष्व च न्यायश्चि व शाकन्व ॥

मनु

अर्थात् (१) अग्निष्व (२) देव्यश्च (३) भूतयश्च (४) नृपयश्च (५) पितृष्व इनको अयत्नपूर्वक छोड़ना न चाहिए। इनको महायज्ञ कहते हैं कि अल्प पक्ष तो नैमित्तिक हुआ करते हैं, परन्तु ये नियम के फल में हैं, और मनुष्य के वैश्विक जीवन से इनका गहरा सम्बन्ध है। ये महायज्ञ यदि नियम विधिपूर्वक अर्थात् के साथ किये जाते हैं, तो मनुष्य का जीवन उत्तरोत्तर

उन्नत और पवित्र होता जाता है, और अन्त में वह मोक्ष का अधिकारी होता है।

(१) ऋषियज्ञ

इसको ब्रह्मयज्ञ भी कहते हैं। इसके अन्तर्गत स्वाध्याय और सन्ध्योपासन ये दो कर्म आते हैं। स्वाध्याय के दो अर्थ हैं। एक तो यह कि मनुष्य प्रातःकाल और सायंकाल प्रतिदिन कुछ धार्मिक ग्रन्थों का पठन-पाठन और मनन अवश्य करे। इससे उसके दुर्गुणों का क्षय होगा, और सदगुणों की वृद्धि होगी। और दूसरा अर्थ “स्वाध्याय” का यह है कि मनुष्य स्वयं अपने आप का अध्ययन साय-प्रातः अवश्य करे—अपने सदगुणों और दुर्गुणों का मन ही मन विचार करे, तथा दुर्गुणों को छोड़ने और सदगुणों को बढ़ाने की प्रति दिन प्रतिज्ञा और प्रयत्न करे। यह ऋषियज्ञ अथवा ब्रह्मयज्ञ का एक अङ्ग है।

दूसरा अङ्ग सन्ध्योपासन है। इसमें ईश्वर की उपासना मुख्य है। मनु महाराज सन्ध्योपासन का समय बतलाते हुए कहते हैं —

पूर्वा सध्यांजपंस्तिष्ठेत्सावित्रीमर्कदर्शनात् ।

पश्चिमा तु समासीन सम्यगृक्षविभाषनात् ॥

मनु० अ० २

अर्थात् प्रातः काल में जब कुछ नक्षत्र शेष रह जावें, तब से लेकर सूर्यदर्शन होने तक गायत्री का जप करते हुए—अर्थ-सहित उसका मनन करते हुए—अपना आसन जमाये रहे, और इसी प्रकार सायंकाल में सूर्यास्त के समय से लेकर जब तक नक्षत्र खूब अच्छी तरह न दिखाई देने लग, तब तक बराबर सन्ध्योपासन में बैठा रहे। सन्ध्या एकान्त में, झुली हवा में,

किसी रमणीक अपह में उन्मत्त के तीर करनी चाहिए। महर्षि मनु कहते हैं कि प्रातःसम्भ्यासे रात भर की, और सायं-सम्भ्या से दिन भर की पुवाचनार्थों का नम्र होता है।

सम्भ्या में पहले भावमन, अनुस्मरण और मार्जन की क्रिया के बाद प्राणायाम किया जाता है। प्राणायाम को सब से सख्त रीति यह है कि नाभि के नीचे से मूलेन्द्रिय का ऊपर की ओर स कोष्ण करते हुए भीतर की वायुको सम्पूर्णतः बाहर निकाल दे, और बसको बाहर ही यथाशक्ति रोके रहे। इसके बाद फिर धीरे धीरे वायु को भीतर डीकर ऊपर की ओर आगच्छ में उसको यथाशक्ति रोके। बाहर और भीतर वायु को रोकने का क्रम से क्रम इसका अभ्यास करना चाहिए कि स भ्याका प्राणायाम-मन्त्र मन्त्र ही मन्त्र स्थिति के साथ तीन-तीन बार जपा जा सके। तब एक प्राणायाम होगा। इसी प्रकार के क्रम से क्रम तीन प्राणायाम तो स भ्या में अभ्यस्य करने चाहिए। फिर जितने ही अधिक कर सके, उतना ही भयंका है।

मनु महापुरुष लिखते हैं कि जिस प्रकार घातुओं को तपाये स उनका मूत्र सब बाहर निकल जाता है, वही प्रकार प्राणायाम करने से मनुष्य की इन्द्रियाँ के सारे दोष दूर हो जाते हैं। आरोग्यता और आयु बढ़ती है।

प्राणायाम के बाद अथमप ष के मंत्रों में परमात्मा की सृष्टि रचना का वर्णन है, और इस वृष्टि से पाप से निवृत्त होने का मार्ग दृष्टाया गया है। फिर मनसा पठिक्रम। और उपस्थान के मंत्रों में हम अपने को परमात्मा के निकट होने का अनुभव करते हैं। उत्पत्त्यात् पापत्री मंत्र से परमात्मा के सर्व भ्यायी, सर्वशक्तिमान् और तेजस्वी होने का अनुभव करके हम

अपनी बुद्धि को सन्मार्ग की ओर प्रेरित करने की प्रार्थना करते हैं, और अन्त में उस सर्व-कल्याण-मूर्ति प्रभु को नमस्कार करके सन्ध्योपासन को समाप्त करते हैं।

यह सन्ध्या का सारांश लिखा गया है। सन्ध्योपासन-विधि की अनेक पुस्तकें छपी हैं। उनको देखकर और किसी आचार्य गुरु के द्वारा प्राणायाम इत्यादि सन्ध्योपासन की सम्पूर्ण विधि का यथोचित रीति से अभ्यास करना चाहिए।

चाहे हम रेल इत्यादि की यात्रा में हों, अथवा अन्य किसी स्थिति में हों; पर सन्ध्योपासन कर्म का त्याग न करना चाहिए। जल इत्यादि के उपकरण न होने पर भी परमात्मा की उपासना ठीक समय पर अवश्य कर लेनी चाहिए। उपकरणों के अभाव में कर्म का ही त्याग कर देना उचित नहीं।

२ देवयज्ञ

इसको अग्निहोत्र भी कहते हैं। यह भी साय-प्रात दोनो काल में वेद मंत्रों के द्वारा किया जाता है। अग्निहोत्र से जल-त्रायु इत्यादि शुद्ध होता है। रोगों का नाश होता है।

३ भूतयज्ञ

इसको बलिवेश्वदेव भी कहते हैं। भोजन के पहले यह महायज्ञ किया जाता है। पहले मिष्टान्न इत्यादि की कुछ आहु-तिया अग्नि में छोड़ी जाती हैं। फिर कुत्ता, भगी, रोगी, कोढ़ी, पापी इत्यादि तथा अन्य पशु-पक्षी, कोट-पतंग इत्यादि को भोजन का भाग देकर उनको सतुष्ट किया जाता है।

४ नृत्यज्ञ

इसको अतिथियज्ञ भी कहते हैं। इसमें अतिथि-अभ्यागत,

साधु-महात्मा, सखन इत्यादि को भोजन, वस्त्र, इत्यादि से समुत्पन्न करके उनके उत्सर्ग से छाम उठाते हैं। “भक्तिवि-संस्कार” नामक स्वतन्त्र प्रकरण इस पुस्तक में अत्यन्त विषय है।

५ पितृयज्ञ

माता पिता, माधार्य इत्यादि तथा अन्य गुरुजनों की क्लिय सेवा-शुभूपा करना पत्नी भाजा का पासन करना उनके प्रिय काम कर्मों आभारण करना पितृयज्ञ कहलाता है।

यहाँ पाँच महायज्ञ हैं, जो गृहस्थ के क्लिय विधीय कर, और अन्य आश्रमवासियों के क्लिय भी साधारण तौर पर, कल्लाये गये हैं। “पञ्चमहायज्ञविधि” की कई पोथियाँ छप गई हैं, जमें इनकी विधियाँ और मंत्र इत्यादि दिये हैं, सो देखकर सम्यास कर सेवा चाहिए।

सोलह संस्कार

किसी मासूकी वस्तु पर कुछ क्रियार्थ का चेसा प्रमाण बाकना कि, जिससे वह वस्तु और भी उत्तम बने, इसी को संस्कार कहते हैं। मनुष्य-जीवन को सुन्दर और उज्ज्वल बनानेके क्लिय हमारे पूर्वज ऋषियों ने जो रीतियाँ कल्लवाई हैं, इन्हीं को संस्कार कहते हैं। ये धार्मिक क्रियार्थ, मनुष्य के गर्भ में जाने से लेकर मृत्यु पर्यन्त कुछ सोखे हैं, और इन्हीं को विष्णु धर्म में सोखे संस्कार कहते हैं। इन सोखे संस्कारों के करने से मनुष्य का शरीर, मन और भास्मा उज्ज्वल तथा पवित्र होता है। ये सोखे संस्कार इस प्रकार हैं—

१ गर्भाधान—इसी को विवेक और पुत्रेष्टि भी कहते हैं।

इसमें माता-पिता दोनों गर्भ धारण के पहले पूर्ण ब्रह्मचर्य का व्रत रखते हैं। ऋतु-दान के कुछ दिन पहले से ऐसी ऐसी औषधियां सेवन करते हैं कि जिनसे उनका रज वीर्य पुष्ट और पवित्र होता है। इसके बाद दोनों पवित्र और प्रसन्न भाव से गर्भाधान करते हैं।

२ पुंसवन—यह सस्कार गर्भ धारण के बाद तीसरे महीने में होता है। इसका तात्पर्य यह है कि, जिससे गर्भ की स्थिति ठीक ठीक रहे। इसी सस्कार के समय माता-पिता इस बात को भी दरसाते हैं कि, जब से गर्भ धारण हुआ है, तब से हम दोनों ब्रह्मचर्यव्रत से हैं, और जब तक फिर गर्भधारण की आवश्यकता न होगी, तब तक बराबर ब्रह्मचर्यव्रत से रहेंगे। इस सस्कारके समय भी स्त्रीको पुष्टिकारक और पवित्र औषधियां खिलाई जाती हैं।

३ सोमन्तोन्नयन—यह सस्कार गर्भ की वृद्धि के अर्थ छठे महीने में किया जाता है। इसमें ऐसे ऐसे उपाय किये जाते हैं कि, जिससे गर्भिणी का मन सुप्रसन्न रहे, उसके विचार उत्तम रहें, क्योंकि उन्हीं का असर बालक के मस्तिष्क और शरीर पर पड़ता है।

४ जातकर्म—यह सस्कार बालक के उत्पन्न होने पर, नाल-छेदन के पहले किया जाता है। इसमें होम-हवन, इत्यादि धर्मकार्य किये जाते हैं, और बालक की जिह्वा पर सोने की सलाई से 'वेद' लिखा जाता है। इसका तात्पर्य यह है कि, तू विद्वान् बन। तेरी बुद्धि बड़ी हो।

५ नामकरण—यह सस्कार बालक के उत्पन्न होने के ग्यारहवें दिन किया जाता है। इस संस्कार के अवसर पर

बाळक का नाम रखा जाता है। नाम रखनेमें इस बात का ध्यान रचना चाहिए कि नाम सरल और सरस हो। ब्राह्मण के नाम में विद्या, इन्द्रिय के नाम में ब्रह्म, वैश्य के नाम में धन और शूद्र के नाम में सेवामात्र का बोध होना चाहिए। हिन्दी के नाम में भी मधुरता हो, दो-तीन अक्षरसे अधिक न हों, सीता, सावित्री इत्यादि।

३ मिथुनमय—यह संस्कार बाळक के चौथे महीने में किया जाता है। इसमें बाळक को धर्मकृत्यों के साथ घर से बाहर निकालना मारम्भ किया जाता है।

४ धनप्रापण—यह बाळक के छठे मास में किया जाता है। इस संस्कार के समय बाळक को मधु और क्षीर इत्यादि दिया जाता है। इसके बाद वह मूल-मूत्र का अधिकारी होता है।

८—ब्रह्मकर्म—इसी को मुख्य संस्कार भी कहते हैं। यह प्रायः बाळक के तीसरे बर्ष में होता है। इसमें बाळक के गर्भ कस्या के पास मूत्र दिये जाते हैं।

९ यज्ञोपवीत—इसी संस्कार का ब्रह्मयज्ञ या व्रतकर्म भी कहते हैं। यह संस्कार प्रायः बाळक का आठवें में इन्द्रिय का ग्याह्वर्षे बर्ष में और वैश्य का बारहवें बर्ष में होता है। इसी संस्कार के द्वारा बाळक ब्रह्मकर्म का व्रत धारण कर के वैदान्यास का अधिकारी होता है।

१० वैशाख—वैश्व का ब्रह्मयज्ञ मारम्भ करने के पहले जो धार्मिक विधि की जाती है, उसको वैशाख संस्कार कहते हैं।

११ समावृत्त न—ब्रह्मयज्ञ समाप्त करने पर अब ब्रह्मचारी

को स्नातक पदवी दी जाती है, उस समय जो धार्मिक क्रिया होती है, उसी को समावर्त्तन कहते हैं।

१२ विवाह—सन्तानोत्पत्ति के उद्देश्य से जब मनुष्य अपने ही समान कुलशीलवती स्त्री का पाणिग्रहण करता है, उस समय की धार्मिक विधि को विवाह संस्कार कहते हैं।

१३ गार्हपत्य—जब मनुष्य गृहस्थाश्रम में प्रवेश करके अपने घर में धर्मविधियों के साथ अग्नि की स्थापना करता है, उस समय यह संस्कार किया जाता है, और तभी से गृहस्थ-धर्म के पंचमहायज्ञ इत्यादि कर्म वह अपनी पत्नी के साथ करने लगता है।

१४ वानप्रस्थ—गृहस्थ का कर्तव्य पालन करके जब मनुष्य आयु के तीसरे भाग में धर्म और मोक्ष की साधनाके लिए वन-को जाता है, उस समय यह संस्कार किया जाता है।

१५ सन्यास—आयु के चौथे भाग में जब मनुष्य ईश्वर-चिन्तन करते हुए केवल मोक्ष की साधना में लगना चाहता है; और सब प्राणियों पर समदृष्टि रखकर जनहित को अपना एकमात्र उद्देश्य रखना चाहता है, तब जो विधि की जाती है, उसको सन्यास-संस्कार कहते हैं।

१६ अन्त्येष्टि—यह अन्तिम संस्कार मनुष्य के मर जाने पर किया जाता है। इसमें उसका शव एक कुण्ड में वैदिक विधि से हवन के साथ जलाया जाता है। यह अन्तिम यज्ञ है। इसी लिए इसका नाम अन्त्येष्टि है।

उपर्युक्त सोलह मुख्य-मुख्य संस्कारों के अतिरिक्त १-कर्ण-वेध (कनछेदन) और २-केशान्त अर्थात् युवावस्था के प्रारम्भ

में बाड़ीसूत्र इत्यादि सब पाठों के मुख्यान का भी एक संस्कार होता है। परन्तु इनकी गिनती साधारण संस्कारों में है।

प्रत्येक संस्कार के समय वैदिकविधि से हवन किया जाता है। गायन, वादन इत्यादि भीर विद्वानों का संस्कार किया जाता है।

ये संस्कार कन्या और पुत्र दोनों के लिए, अनिवार्य हैं। मनुष्यमात्र यदि इन संस्कारों को शास्त्र-विधि के अनुसार करने लगे तो उनका जीवन पवित्र और उच्च बन जाये। हिन्दूजाति में अब से इन संस्कारों का खोप हो गया है, तभी से जीवन्तकी पवित्रता भी नष्ट हो गई। संस्कारों का पुनरुद्धार प्रत्येक गृहस्थ का कर्तव्य है।

तीसरा खण्ड आचार-धर्म

“आचारः परमो धर्मः श्रुत्युक्त स्मार्त एव

—मनु०, अ० १—१०८

आचार

मनुष्य के जिस व्यवहार से स्वयं उसका हित तथा संसार का उपकार होता है, उसीको आचार और उसके विरुद्ध व्यवहार को अनाचार कहते हैं। आचार को सदाचार और अनाचार को दुराचार भी कहते हैं। वेद और स्मृतियों के अनुकूल जो धर्माचरण इत्यादि व्यवहार किया जाता है, वही आचार है; और आचार ही परम धर्म है। मनुष्य चाहे जितना विद्वान् हो, चारों वेदों का सागोपांग ज्ञाता हो, पर यदि वह आचार-भ्रष्ट है, तो उसका सब ज्ञान व्यर्थ है। यही बात मनु जी कहते हैं :—

आचारद्विच्युतो विप्रो न वेदफलमश्नुते ।

आचारेण तु संयुक्तः सम्पूर्णफलभागभवेत् ॥

एवमाचारतो दृष्ट्वा धर्मस्य मुनयो गतिम् ।

सर्वस्य तपसो मूलमाचारं जगृहु परम् ॥

मनु०

आचारभ्रष्ट वेदज्ञाता वेद के फल को नहीं पाता। जो आचार से युक्त है, वही सम्पूर्ण फल पाता है। इसलिए मुनियों ने जब देखा कि आचार ही से धर्म की प्राप्ति है, तब उन्होंने धर्म के परम मूल आचार को ग्रहण किया। जो अपने चरित्र को सदैव धर्मानुकूल रखता है, वह सब प्रकार से सुखी होता है। इस विषय में भगवान् मनु कहते हैं—

आचारात्कृते ज्ञायुराचारादीप्सिताः प्रजा ।

आचाराद्धनमक्षय्यमाचारो हन्त्यलक्षणम् ॥

मनु०

आचार से पूर्णायु मिलती है, आचार से ही मनोवाञ्छित सन्तान उत्पन्न होती है, आचार से ही धन सम्पत्ति मिलती

है, और भाषार से सब द्रुगुण दूर हो जाते हैं। इसके निष्पत्त, जो भाषार की रक्षा नहीं करते, उनकी क्या रक्षा होती है, सो भी मनु भगवान् के शब्दों में सुन लीजिए —

पुराणायो हि दुस्तो जाके धवति निन्दितः ।

दुर्नामी च कर्तव्यं व्यविवेक्यनुरीय च ॥

मनु

पुराणारी पुरुष की संसार में निम्ना होती है, वह नाया प्रकार के दुःखों का मार्गी होता है, निष्तर रोम से पीड़ित रहता, और बहुत दुःख मर जाता है। इस छिप भावों की संतान को उचित है कि अपने भाषार की रक्षा करें। वास्तव में धर्म शब्द का अर्थ ही यह है कि, जिसका भाषार भेद्य हो और जो सर्वैय कर्तव्य का त्याग और कर्तव्य का पावन करता हो —

कर्तव्यभाषणकार्यमकर्तव्यभाषणम् ।

किञ्चित् प्रकृत्याचारं च वा धर्म इति स्मृतः ॥

जो कर्तव्य कार्य का भाषण करता हो और कर्तव्य का भाषण न करता हो तथा सर्वैय अपने श्रमाधिक भाषार में स्थित रहता हो वही धर्म है।

अब वास्तव में प्रश्न यह है कि कर्तव्य क्या है, और कर्तव्य क्या है, तथा धर्म का—हिन्दुओं का—प्रकृतिस्थित भाषण क्या है ? इस प्रश्न का उत्तर महाराज देते हैं —

नेतोर्मन्त्रो धर्मस्युः स्मृतिर्ब्रह्म च इतिराय ।

भाषारसर्वैय साधुवाचसमकमुच्यते च ॥

मनु

धर्मश्रुतों के धर्म वा कर्तव्य का मूल सम्पूर्ण वेद है। इसके सिवाय, वेद के जाननेवाले श्रुति मुनि लोग जो स्मृति धर्म श्रावण लिख गये हैं, उनमें भी धर्म का वर्णन है और जोसा वे

आचरण कर गये हैं, वह भी हमको कर्तव्य सिखलाता है। फिर इसके सिवाय अन्य साधुपुरुषों का जो आचार हम देखते हैं, वह भी धर्ममूल है। इस सब के साथ ही कर्तव्याकर्तव्य की परीक्षा करनेके लिए मनुजी ने एक बहुत ही उत्तम कसौटी बतलाई है, और वह है—“आत्मनस्तुष्टि”। अर्थात् जिस कर्तव्य से हमारी आत्मा सन्तुष्ट हो, मन प्रसन्न हो, वही धर्म है। अर्थात् जिस कार्य के करने में हमारी आत्मा में भय, शंका, लज्जा, ग्लानि इत्यादि के भाव उत्पन्न न हों; उन्हीं कर्मों का सेवन करना उचित है। देखिये, जब कोई मनुष्य मिथ्या भाषण, चोरी, व्यभिचार, इत्यादि अकर्तव्य कार्यों की इच्छा करता है, तभी उसकी आत्मा में भय, शंका, लज्जा, ग्लानि इत्यादि के भाव उठते हैं, और मनुष्य की आत्मा स्वयं उसको ऐसे कर्मों के करनेसे रोकती है। इसलिए सज्जन पुरुषों को जब कभी कर्तव्य के विषय में सन्देह उत्पन्न होता है, तब वे अपनी आत्मा की प्रवृत्ति को देखते हैं। वे सोचते हैं कि, किस कार्य के करने से हमारी आत्मा को सन्तोष होगा, और ऐसा ही कार्य वे करते भी हैं। किसी कवि ने कहा है —

सता हि सन्देहपदेषु वस्तुषु प्रमाणमन्त करणप्रवृत्तय ।

अर्थात् सन्देह उपस्थित होने पर सत्पुरुष लोग अपने अन्त-करण की प्रवृत्तियों को ही प्रमाण मानते हैं। अन्त-करण की स्वाभाविक प्रवृत्ति सदाचार ही है, और सदाचारसे ही चित्त प्रसन्न होता है। भगवान् पतञ्जलि इसी चित्त-प्रसन्नतारूप आचार का वर्णन इस प्रकार करते हैं —

मैत्रीकरुणामुदितोपेक्षाणां सुखदुःखपुण्यापुण्यविषयाणां भावना
तदचित्तप्रसादनम् ॥

—योगदर्शन

अर्थात् सुखी, दुःखी, पुण्यात्मा और दुष्टात्मा इन चार प्रकार के

पुरुषों में अत्यन्त मीठी कदवा, मुदिता और उपेक्षा की भावना से विचित्र प्रसन्न होता है। संसार में चार ही प्रकारके प्राणो हैं। कोई सुखी है, कोई दुखी है, कोई अर्थात्मा है, कोई अधर्मी है। इन चारों प्रकार के लोगों से यथायोग्य व्यवहार करनेसे ही विचित्र प्रसन्न होता है—मन को शान्ति मिलती है। जो लोग सुखी है, उनसे प्रेम या मीठी का कर्त्तव्य करना चाहिए, जो लोग ईग-हीन दुखी, पीड़ित है, इन पर दया करनी चाहिए। जो पुण्यात्मा पवित्र माधुर्यवाले हैं, उनको देखकर हर्षित होना चाहिए। और जो दुष्ट दुष्टाचारी हैं, उनसे अदानीय दया चाहिए—अर्थात् उनसे न प्रीति करे और न वैर।

इस प्रकार का व्यवहार करने से हम अपने आपको उन्नत कर सकते हैं अनुभावनाओं की प्राप्ति और असुभावनाओं का त्याग करने के लिए यही सदाचार का मार्ग इन्द्रियों से बतया है। जिन सज्जनों ने देखा थाचार धारण किया है, उन्हीं को उद्गम करने का उद्देश्य अर्थात् हरि जी कहते हैं :—

दोषा अत्यन्तमे तदुने प्रीतिरौ वदन्वा
 विद्यायां ॥ कदाचिन्मनोवितिरिर्ध्वंमप्यकण्ठम् ॥
 अथिा सुखिनि अतिरात्मकमे संसर्गं मुक्तिं कले-
 प्यंतं ननु क्वचित् निर्मलानुवास्तेभ्यो वरेभ्यो वमा ॥

सज्जनों के सत्संग की इच्छा दूसरे के अनुगुणों में प्रीति, सुख-जनों के प्रति वदन्ता, विद्या में धर्मिकधि, अस्वी ही की में एति लोकमिच्छा से भय, ईश्वर में भक्ति, मात्स्यदमन में शक्ति, दुष्टों के संसर्ग से मुक्ति अर्थात् दुरी संगति से बचना— ये निर्मल गुण जिसके मन में कहते हैं, उसको हमारा नमस्कार है। वही सदाचारी पुरुष है।

ब्रह्मचर्य

ब्रह्म का अर्थ है—ईश्वर, अथवा विद्या। सो ईश्वर अथवा विद्या के लिए जो आचरण किया जाय, उसका नाम है ब्रह्मचर्य। परन्तु ब्रह्मचर्य का साधारण अर्थ आजकल वीर्यरक्षा से लिया जाता है। इसलिए यहाँ पर हम वीर्यरक्षा का ही विचार करेंगे। विद्यार्थियों से सम्बन्ध रखनेवाले विशिष्ट ब्रह्मचर्य पर हम आश्रमधर्म में लिख चुके हैं।

वीर्यरक्षा मनुष्य का प्रधान धर्म है। मनुष्य जो कुछ भोजन करता है, उसके कई प्रकार के रस तैयार होने के बाद मुख्य धातु या वीर्य तैयार होता है। यह वीर्य शरीर का राजा है। इसी से मनुष्य की शक्ति और ओज कायम रहता है। मनुष्य के शरीर से जब ओज नष्ट हो जाता है, तब वह जीवित नहीं रहता। आयुर्वेद में इसका इस प्रकार वर्णन किया गया है —

ओजस्तु तेजो धातूनां शुक्रान्ताना परं स्पृतम् ।

हृदयस्थमपि व्यापि देहस्थितिनिबन्धनम् ॥

अर्थात् शुक्र आदि शरीर के अन्दर जितनी धातुएँ हैं, उन सब से एक अपूर्व तेज प्रकट होता है, और उसी को ओज कहते हैं। यह यद्यपि विशेषकर हृदय में ही स्थिर रहता है; परन्तु उसका प्रभाव सारे शरीर में व्याप्त रहता है, और यही शरीर की स्थिति कायम रखता है। अर्थात् इसका जब नाश हो जाता है, तब शरीर नष्ट हो जाता है।

इससे पाठकों को मालूम हो जायगा कि, मनुष्य के लिए वीर्यरक्षा की कितनी आवश्यकता है। मनुष्य यदि अपने वीर्य

को अपने शरीर के भ्रष्ट धारण किये जाता है, ता उसकी शारीरिक उन्नति और मानसिक उन्नति स्थावर होती जाती है। शरीर और मन में गहरी स्फूर्ति सबैब फी जाती है। शीर्ष रक्षा करनेवाले मनुष्य का कोई विचार निष्फल नहीं जाता। वह जो कुछ सोचता है, करके ही छोड़ता है। मात्र एक जितने महापुरुष संसार में हो पाये हैं, वे सब प्रकृतापी थे। प्रकृत्य के बल पर ही उन्होंने कठोर से भी कठोर कार्य किये किये थे। यहाँ तक कि वे में कहा है कि—

प्रकृत्यैव तस्या देवा मृत्युमुपागतः ।

अर्थात् प्रकृत्य और तप के बल पर ही देवता लोग मृत्यु को जीत लेते हैं। मीमांसापितामह की कथा उसको मासूम है। प्रकृत्य के बल पर ही उनका इच्छामरण की शक्ति प्राप्त थी, उन्होंने मृत्यु को जीत लिया था। बापों से किहू होने पर भी, अपनी इच्छा से बहुत दिव तक जीवित रहे। उसी कथा में सब का धर्मोपदेश दिया, और जब उन्होंने इस संसार में प्रथम भाव इच्छा न समझा, तब स्वैच्छा से शरीर का त्याग किया। पण्डित रामजी हनुमानजी इत्यादि भगवत् बाह्यप्रकृत्यकारी भारतवर्ष में हो गये हैं, जो हमारे लिए प्रकृत्य के भाई हैं। वर्तमान समय में भी स्वामी स्वामि जी बाह्य प्रकृत्यकारी हो गये हैं, जिन्होंने भारतवर्ष को घोर निद्रा से जगाया, और उनका कोई भी उपदेश अपना कार्य निष्फल नहीं गया। भारत-बाह्यो घरे घरे उनकी उपदेश पर मा रहे हैं।

मात्रकाल प्राप्त हुआ जाता है कि हमारे लुप्त और बाह्य के विचारों शीर्षरक्षा पर किहूकुछ ध्यान नहीं देते। 'कई प्रकार से—मुष्मिपुन इत्यादि की कृपे से—अपने शीर्ष को नारा

किया करते हैं। हाय ! उनको नहीं मालूम कि, हम अपने हाथ से अपने जीवन पर कुठाराघात कर रहे हैं। वीर्य का एक एक वूँद मनुष्य का जीवन है। कहा है कि—

मरणं बिन्दुपातेन जीवनं बिन्दुधारणात् ।

अर्थात् वीर्य का एक वूँद भी शरीर से गिरा देना मरण है, और एक वूँद की भी अपने अन्दर रक्षा कर लेना जीवन है। स्वामी रामतीर्थ जीने लिखा है कि, मनुष्य के शरीर के अन्दर दो रक्त होते हैं। एक लाल रक्त, जो मामूली रक्त है, और एक सफेद रक्त जो वीर्य है। जब एक वूँद भी रक्त मनुष्य के शरीर से किसी कारण निकल जाता है, तब तो उसको बड़ा पश्चात्ताप होता है कि, हाय ! इतना रक्त मेरा निकल गया। पर सफेद रक्त (वीर्य), जो शरीर का राजा है, उसको व्यर्थ ही हम जानबूझ कर, क्षणिक सुख के लिए, शरीर से निकाल दिया करते हैं। यह कितने दुःख की बात है।

आह ! वीर्यक्षय से आज न जाने कितने होनहार नवयुवक अकाल ही काल के गाल में चले जा रहे हैं। आयुर्वेद में स्पष्ट लिखा हुआ है —

आहारस्य परधाम शुक्रं तद्द्रव्यमात्मनः ।

क्षये यस्य बहून् रोगान् मरणं वा नियच्छति ॥

अर्थात् मनुष्य जो प्रति दिन नियमित आहार करता है, एक मास के बाद उसका अन्तिम रस, अर्थात् वीर्य तैयार होता है— उसकी पूर्ण यत्न से रक्षा करना चाहिए; क्योंकि उसके क्षय होने पर अनेक रोग आ घेरते हैं। यही नहीं, बल्कि मनुष्य की जीवनशक्ति की अन्तिम यन्त्रिका भी पतन हो जाती है। इस

किय मनुष्य को ब्रह्मचर्य की रक्षा प्रत्येक क्षणमें करनी चाहिए।
पतञ्जलि ऋषि ने अपने योगसूत्रों में लिखा है —

ब्रह्मचर्यप्रतिष्ठायां ब्रह्मचर्यात् ।

योग०

ब्रह्मचर्य की प्रतिष्ठा से ही ब्रह्म-वीर्य की प्राप्ति होती है। वीर्य का नाम ब्रह्मचर्यात् ब्राह्म प्रकार के मीथुन विद्वानों ने ब्रह्मचर्य है —

वृषभं वृषभं कश्चि मीथुनं पुरुषभक्तम् ।

ब्रह्मचरोऽब्रह्मचारात् किंवा निष्पत्तिर्यत् च ॥

पुरुषमैतु ब्रह्मचर्यात् प्रकल्पितं मनीषिणाः ।

विरपेतं ब्रह्मचर्यं ब्रह्मचर्यं ब्रह्मचर्यम् ॥

अर्थात् वृषभ, वृषभ, केचि, मीथुन, पुरुषभक्त, ब्रह्मचर्य में मायुज, संकल्प, प्रयत्न, कार्यनिष्पत्ति से ब्राह्म प्रकार के मीथुन (ब्रह्मचर्यात्) विद्वानों ने ब्रह्मचर्य है। इनसे ब्रह्मचर्य ही ब्रह्मचर्य है, किन्तु जो ब्रह्मचर्य छोड़ना न चाहिए। ब्रह्मचर्य छोड़ने से वीर्य क्या क्या क्षति होती है, इस विषय में गीतम ऋषि का बचन छीजिए —

आकुलेना क्वं वीर्यं प्रया धीरत्वं महत्तमम् ।

पुनर्न च ह्यतीतिव्यस्यं च ह्यन्वतेऽब्रह्मचर्यम् ॥

अर्थात् ब्रह्मचर्य न पारण करने से मायु, ब्रह्म, वीर्य बुद्धि, ऊर्ध्वी वीर्य शक्ति, महापुरुष, पुण्य, मेम, श्लेषादि सब ब्रह्मचर्य छोड़ने से गुणों का नष्ट हो जाता है।

यह नहीं कि विवाह करने से पहिले ही मनुष्य ब्रह्मचारी हो, बल्कि विवाह कर देने के बाद, अपना ही के साथ भी, ब्रह्मचारी रहना चाहिए। इस पर नहीं कहते कि, वह ही का

सर्वथा त्याग कर दे, किन्तु हमारा तात्पर्य इतना ही है कि, स्त्री के रहते हुए भी उसको वीर्यरक्षा का ध्यान रखना चाहिए। स्त्रीसंग सिर्फ सन्तान-उत्पत्ति के लिए है। इन्द्रिय-सुख के लिए वीर्य का नाश न करना चाहिए।

रामायण के पढ़नेवालों को मालूम है कि, महाबली मेघनाद को मारने की किसी में शक्ति न थी। उस समय भगवान् राम-चन्द्रजी ने कहा कि, इस महाबली राक्षस को वही मार सकेगा, जिसने बारह वर्ष ब्रह्मचर्य का साधन किया हो। लक्ष्मणजी श्रीरामचन्द्रजी के साथ वन में बारह वर्ष से पूर्ण ब्रह्मचारी थे। इन के मन में कभी कोई अपवित्र भाव नहीं उठा था। इस लिए लक्ष्मणजी ने ब्रह्मचर्य के सहारे ही मेघनाद पर विजय प्राप्त की। इसी प्रकार महाभारत में चित्ररथ गन्धर्व के अर्जुन-द्वारा जीते जाने की कथा है। उसमें लिखा है कि, महावीर अर्जुन ने जब चित्ररथ को जीत लिया, तब चित्ररथ ने कहा —

ब्रह्मचर्यं परोधर्मं स चापि नियतस्त्वयि ।

यस्मात्तस्माद्दहं पार्थं रणेऽस्मिन् विजितस्त्वया ॥

अर्थात् हे पार्थ, ब्रह्मचर्य ही परम धर्म है। इसका तुमने साधन किया है, और इसी कारण तुम मुझ को युद्ध में पराजित कर सके हो।

कहा तक कहें, ब्रह्मचर्य की जितनी महिमा कही जाय, थोड़ी है। इस लिए ब्रह्मचर्य अर्थात् वीर्य की रक्षा करके मनुष्य को अपना जीवन सफल करना चाहिए।

यज्ञ

संसार के हित के लिए जो आत्मत्याग किया जाता है, उसी को यज्ञ कहते हैं। हिन्दूजाति का जीवन यज्ञमय है। यह से ही इसकी उत्पत्ति होती है, और यह ही में इसकी अन्त्येष्टि होती है। यज्ञ का अर्थ जितनी पूर्णता के साथ कार्य या हिन्दू जाति ने आया है, उतना अल्प किसी जाति ने नहीं। हिन्दू-धर्म के सभी ग्रन्थों में यज्ञ का विस्तृत वर्णन है। आदि-धर्म-ग्रन्थ के तो बिलकुल यज्ञमय हैं। एक हिन्दू जो कुछ कर्म जीवन भर करता है सब यज्ञ के लिए। श्रीमद्भगवद्गीता के तीसरे और चौथे अध्याय में भगवान् श्रीकृष्णकवचजी ने यज्ञ का यज्ञमय अत्यन्त सुन्दरता के साथ बतलाया है। माप कहते हैं—

ध्यात्वात्कर्मोत्पन्नं लोकोत्तं कर्मकल्पना ।

उत्तं कर्म कौन्तेय सुखदं च समाचर ॥

गीता

अर्थात् यदि 'यज्ञ' के लिए कर्म नहीं किया जायगा, केवल स्वार्थ के लिए किया जायगा तो वही कर्म कल्पनकारक होगा। इस लिए हे भर्तृन्, तुम जो कुछ कर्म करो, सब यज्ञ के लिए— अर्थात् संसार के हित के लिए—करो, और संसार से आसक्ति छोड़कर आत्मत्वपूर्वक आचरण करो। यज्ञ की उत्पत्ति कठकठे हुए भगवान् कहते हैं :—

अदम्याः प्रजाः सृष्ट्वा बुतेषां प्रजापतिः ।

अनेन प्रसृष्टिष्वन्यैक्योऽस्तित्थइहायत्तु ॥

गीता

अर्थात् प्रजापति परमात्मा ने जब आदिकाल में यज्ञ के साथ ही साथ अपनी इस प्रजा को उत्पन्न किया, तब वेद-द्वारा यह कहा कि, देखो, इस 'यज्ञ' से तुम चाहे जो उत्पन्न कर लो। यह तुम्हारी कामधेनु है। यज्ञ तुम्हारी सब मनोकामनाओं को पूर्ण करेगा। क्योंकि—

देवान् भावयताऽनेन ते देवा भावयन्तु व. ।

परस्परं भावयन्त. श्रेय परमवाप्स्यथ ॥

गीता

इस यज्ञ ही से तुम देवताओं—सृष्टि की सम्पूर्ण कल्याणकारी शक्तियों—को प्रसन्न करो। तब वे देवता स्वाभाविक ही तुम को भी प्रसन्न करेंगे। इस प्रकार परस्पर को प्रसन्न करने से तुम सबका परम कल्याण होगा। क्योंकि—

इष्टान् भोगान् द्वि वो देवा दास्यन्ते यज्ञभाविता ।

तैर्दत्तानऽप्रदायैभ्यो यो भुक्ते स्तेन एव स ॥

गीता

वे यज्ञ से प्रसन्न किये हुए देवता लोग तुमको सब प्रकार के सुख देंगे। परन्तु उनके दिये हुए उन सुखों को यदि तुम फिर उनको अर्पित किये बिना भोगोगे, तो चोर बनोगे। क्योंकि यज्ञ के द्वारा देवता लोग तुमको जो सुखद पदार्थ देंगे, उनको फिर यज्ञ के द्वारा उनका अर्पित करके तब तुम सुख भोग करो। इस प्रकार सिलसिला सुखभोग का लगा रहेगा। यज्ञ करके जो सुख भोग किया जाता है, वही कल्याणकारी है—

यज्ञशिष्टाशिनः सन्तो मुच्यन्ते सर्वकिल्बिषैः ।

भुञ्जते ते त्वयं पापा ये पबन्त्यात्मकारणात् ॥

गीता

अर्थात् पाप करने के बाद जो शेष रह जाता है, उसी का मोच करने से सारे पाप दूर होते हैं, किन्तु जो पापी पाप का ध्यान न रखकर, केवल अपने ही सिद्ध पाकसिद्ध करते हैं, वे पाप करते हैं। किन्तु पाप किये मोक्षन करना मानो पाप ही का मोक्षन है।

जो भक्त हम बताते हैं, वह किस प्रकार उत्पन्न होता है, इस विषय में महात्मान् कृप्य कहते हैं —

मन्वाहृभवति भूतानि परंत्पाकनममभवा ।
 प्याहृभवति परंत्पो यथा कर्मसमुत्पन्ना ॥
 कर्म ऋणोदभवं विदि ऋणाहृभवमुत्पन्नम् ।
 तस्मात् परंत्वं ऋणं कित्त्वं चर्षं प्रतिष्ठन् ॥

गीता

अर्थात् भक्त से हो सब प्राणी उत्पन्न होते हैं, भक्त वृद्धि से उत्पन्न होता है, भीर वृद्धि पाप से होती है। यथा कर्म से उत्पन्न होता है। कर्म के से उत्पन्न हुआ जन्मो और के से उत्पन्न हुआ है। इस प्रकार सपत्न्यापी ईश्वर सर्वत्र पाप में स्थित है। इस सिद्धि—

एवं प्रवर्तितं च नानुवर्तयन्तीह न ।
 भ्यात्पुरिन्निवारणसो मोचं परं च जीवति ॥

गीता

हे भक्तुन परमात्मा के जारी किये हुए वपुंक्त सिद्धिच्छिडे के अनुसार जो मनुष्य भाष्यरथ नहीं करता—अर्थात् पाप के महत्त्व को समझकर जो नहीं करता—यह पापजीवन अपनी इन्द्रियों के सुख में भूखा हुआ इस संसार में व्यर्थ ही जीता है।

इससे अधिक जोखार शर्षों में पाप का महत्त्व और क्या कहलाया जा सकता है! परन्तु भक्तुन सुख की बात है कि,

हम लोगों ने यज्ञ करना छोड़ दिया है। यही नहीं, बल्कि हम में से अनेक सुशिक्षित कहलानेवाले लोग तो यज्ञ की हँसी उड़ाते हैं। भगवान् श्रीकृष्ण की यह बात कि, यज्ञ से वृष्टि होती है, उनकी समझ में नहीं आती। वे लोग कहते हैं कि सूर्य की गर्मी से जो भाफ समुद्रादि जलाशयों से उठती है, उसी से बादल बनकर वृष्टि होती है। यह तो ठीक है, परन्तु फिर क्या कारण है कि, किसी साल बहुत अधिक वृष्टि होती है; और किसी साल बिलकुल नहीं होती। आप कहेंगे कि, भाफ तो बराबर उठती है, परन्तु हवा बादल को कहीं का कहीं उडा ले जाती है; और इसी कारण कहीं वृष्टि अधिक हो जाती है, और कहीं बिलकुल नहीं होती। ठीक। परन्तु हवा ऐसा क्यों करती है? इसका कोई बुद्धियुक्त उत्तर नहीं दिया जा सकता। यही तो भेद है। प्राचीन ऋषि-मुनियों ने इस भेद का खुलासा किया है। उनका कथन है कि, यथाविधि यज्ञ-हवन करने से मुख्य तो वायु की ही शुद्धि होती है, फिर पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, आकाश, इत्यादि सभी भूतों पर यज्ञ का असर पडता है। अग्नि में घृत, इत्यादि जो सुगन्धित और पुष्ट पदार्थ डाले जाते हैं, वे वायु में मिलकर सूर्य तक पहुचते हैं, और बादलों में मिलकर जल की भी शुद्धि करते हैं। महर्षि मनु ने कहा है.—

अमौ प्रास्वाहुति सभ्यगादित्यमुपतिष्ठते ।

आदित्याज्जायते वृष्टिवृष्टेरन्नं तव प्रजा ॥

मनु०

अर्थात् अग्नि में जो आहुति डाली जाती है, वह सूर्य तक

पहुँचती है, सूर्य से वृष्टि होती है, वृष्टि से मन्म हाँठा है, और मन्म से प्रजा ।

इसके सिवाय वायु की शुद्धि से रोम भी नहीं होते । अब से हमारे देश में यह कन्व होगये, और इधर पश्चिमी कन्व-कारणवशों और रैड के कारण वायु और भी अधिक वृष्टि होगई, तभी से इस देश में नाना प्रकार के रोग फैल गये । रोम निवृत्ति के धर्म तो अब भी प्रामीय लोग हजम इत्यादि किया करते हैं, और प्रायः बससे काम ही हुमा करता है । इससे अनुमान कर लेना चाहिए कि, जिस समय इस देश में धर्म कन्वें यह होते थे, उस समय इस देश में आरोग्यता और सुख-समृद्धि निश्चयी होगी । भविष्य पुराण में लिखा है —

धामे धामे सिन्धो देशे देशे इधे सिन्धो म्हा ।

मिरे मीरे सिन्धे जन्मम् धर्मवैव धने धने ॥

वसिष्ठपुराण

अर्थात् यौव यौव में देवता स्थित हैं, देश देश में, माछ के प्रत्येक प्रांत में यह होते पाते हैं, घर घर में द्रव्य मौजूद है, अर्थात् कोई बचिरी नहीं है, और प्रत्येक मनुष्य में धर्म मौजूद है ।

कुछ मूर्ख लोग कदा करते हैं कि, देश की इस वृद्धिवाक्यस्था में वृत्त, मेघा, औषधि तथा सुन्दर सुन्दर मन्म बार, हनुवा इत्यादि भाग में फूँक देना मूर्खता है । इन पदार्थों को स्वर्ग यदि कार्य, तो मोटे-ठान्ने और पुष्ट होंगे । इसी स्वार्थभाव ने इस देश का उत्पात किया है । ये मूर्ख नहीं जानते कि यह जगता के हित के सिद्ध, स्वार्थत्याग करने के हेतु से ही, होता है । ब्राह्मणग्रन्थों में लिखा है —

यज्ञोऽपि तस्यै जनतायै कल्पते ।

—पेतरेय ब्राह्मण ।

अर्थात् यज्ञकार्य परोपकार और जनता के हित के लिए ही होता है । हमारा निज का हित भी उससे अलग नहीं है । यही बात कृष्ण भगवान् ने भी कही है । फिर जो पदार्थ हम हवन करते हैं, वे कहीं नष्ट होकर लोप नहीं हो जाते हैं । जल, वायु और अन्न के द्वारा हमारे ही उपयोग में आते हैं । मूर्ख लोग समझते हैं कि, इनका नाश हो जाता है, पर वास्तव में जो पदार्थ है, उसका नाश तो हो ही नहीं सकता है, और जो नहीं है, वह हो नहीं सकता । गोता में ही कहा है —

नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सत ।

उभयोरपि दृष्टोन्तस्त्वनयोस्त्वत्त्वदर्शिभिः ॥

भगवद्गीता

अर्थात् जो चीज़ है ही नहीं उसका भाव कहीं से हो सकता है, जो है, उसका अभाव नहीं हो सकता । दोनों का भेद तत्त्वदर्शी लोग जानते हैं । मूर्ख क्या जानें ! अस्तु ।

यज्ञ दो प्रकार के होते हैं । एक तो नैमित्तिक यज्ञ, जो किसी निमित्त से किए जाते हैं, जैसे वाजपेय, अश्वमेध, राजसूय, इत्यादि, और दूसरे नित्य के यज्ञ, जो प्रत्येक मनुष्य को करना चाहिए, और जिनको पंचमहायज्ञ कहते हैं । इनका वर्णन इस पुस्तक में अन्यत्र दिया हुआ है ।

पंचमहायज्ञ के अतिरिक्त पक्षयज्ञ प्रत्येक पौर्णमासी और अमावस्या को किया जाता है । नवशस्येष्टि नवीन अन्नों के आने पर और सप्तत्सरेष्टि नवीन संवत् के प्रारम्भ में किया जाता है ।

इसी प्रकार यह भी प्रयास यदि फिर हमारे देश में बल
आयेगी, तो अस्तिवृष्टि, अनावृष्टि और बहुत से रोग-दोष दूर
हो जायेंगे, परन्तु साथ ही, अंग्रेजी राज्य में वायु को वृष्टि
करनेवाले जो कारण यहाँ पर उपस्थित हो गए हैं उनका भी
दूर होना आवश्यक है।

दान

हिन्दू धर्म में दान का बड़ा भारी महत्त्व प्राचीन काल से ही
रखा जाता है। यहाँ पर हरिश्चन्द्र, बलि और कर्ण के समान
राज्ञी हो गए हैं, जिन्होंने अपना सर्वस्व दान करके ऐसे ऐसे
कष्ट भोगे जिनका ठिकाना नहीं। हमारे धर्मग्रन्थों में दान का
माहात्म्य अथवा अगह वर्णन किया गया है, और यह भी बत
साया गया है कि, दानधर्म करने की सच्ची प्रणाली कौन सी
है। उपनिषदों में कहा है —

अध्या देवम् । अग्रध्या देवम् । शिवा देवम् । द्विधा देवम् । त्रिधा
देवम् । चत्विधा देवम् ।

तेचिरीव अन्वित
अर्थात् अज्ञा से हो । अग्रज्ञा से हो । सम्पन्न होकर भी हो ।
छोकरअज्ञावश हो । मय से हो । प्रतिज्ञावश हो । मत्तम्य यह
कि, किसी प्रकार हो दान अर्थात् हो । जो हमेशा लोगों को
दान दिया करता है, वह सर्वप्रिय हो जाता है । उसके शत्रु
भी मित्र बन जाते हैं । कहा है —

दानेन भूयानि वधीतवन्ति,
दानेन वैराग्यनि वान्ति वाचम् ।
श्रोत्रेण वन्दुत्वद्भुवैति शान्ते-
शुभं हि सर्वव्ययवानि इति ।

अर्थात् दान से सब प्राणिमात्र वशमें हो जाते हैं—यहाँ तक कि वैरी लोग वैर छोड़कर मित्र बन जाते हैं। दान से पराये लोग भी अपने भाई बन जाते हैं। दान एक ऐसा उत्तम कर्म है कि, यह सब बुराइयों को दूर कर देता है। सत्य ही है, जिसको दान देने की आदत पड जाती है, उसको फिर अन्य कोई व्यसन सूझ ही कैसे सकता है। उसका धन तो परोपकार में ही लगता है। धन दान-धर्म में लग गया, तब तो ठीक ही है। अन्यथा उसकी गति अच्छी नहीं होती। दान में न लगेगा, तो दुर्व्यसनों में जायगा, अथवा नष्ट हो जायगा। क्योंकि कहा है.—

दानं भोगो नाशस्त्रिस्तो गतयो भवन्ति वित्तस्य ।

यो न ददाति न भुक्ते तस्य तृतीया गतिर्भवति ॥

अर्थात्—

धन की गति तो तीन है, दान भोग औ नाश ।

दान भोग जो ना करै, निश्चय होय विनाश ॥

परन्तु इन तीनों गतियोंमें दान की ही गति उत्तम है। और यदि दान श्रद्धा के साथ, प्रिय वचनों के साथ, दिया जावे, तो फिर क्या कहना है। नीति में कहा है —

दान प्रियवाक्सहितं ज्ञानमगर्वं क्षमाऽन्वित शौर्यम् ।

वित्तं त्यागनियुक्तं दुर्लभमेतच्चतुष्टयं लोके ॥

अर्थात् प्रिय वचनों के साथ दान, नम्रता और निरभिमानता के साथ ज्ञान, क्षमा के साथ शूरता, और त्याग के साथ धन, ये चार कल्याणकारी बातें मनुष्य में दुर्लभ हैं। क्योंकि बहुत से लोग देते हैं, तो दो-चार बातें सुना देते हैं। ऐसे देने से कोई लाभ नहीं। सद्भाव जब पहले ही नष्ट हो गया, तब उस

ज्ञान से क्या फल ? इसलिये ज्ञान में भी प्रिय बनना चाहिये । जो प्रिय बनता है उसको प्रिय मित्रता भी है । प्रेम का ज्ञान बहुत ही श्रेष्ठ है । श्रुतियों में कहा है —

प्रियानि क्वन्तं प्रियं प्रियं प्रियकृत्वा ।

प्रिया भवति भूयानामिह एव एव ॥

भर्षात् जो प्रति दिन सब को प्यार देता है, और प्यार के फायरे करता है, उसको स्वयं प्यार मिलता है । और, यह एक छोकर तथा परछोकर, दोनों अर्थात्, सब प्राणियों का प्रिय होता है । इसलिये प्यार का ज्ञान सब से श्रेष्ठ है । मध्यम, सब देखना चाहिये कि, ज्ञान किस प्रकार का किया जाय । श्रीकृष्ण भगवान् न गीता में ज्ञान भी तीन प्रकार का कथलाया है—सात्त्विक, राजस, तामस ।

सात्त्विक ज्ञान

एतन्मतिरिति नष्टं शीतोन्मुक्तमग्निः ।

इदं कले न वाते न तदात्तं सात्त्विकं कृत्स्नम् ॥

भर्षात् “ज्ञान देना हमारा कर्तव्य है” —अतः, सिर्फ इस एक भावना से जो ज्ञान दिया जाता है, जिसमें ऐसा कोई भाव नहीं रहता कि, आज हम इसको देते हैं, कल हमारा भी इससे कोई उपकार हो जायगा, और जो देश, कास, तथा पाप का निवार करके ज्ञान दिया जाता है, यह सात्त्विक ज्ञान है ।

आज-कल हमारे देश में ज्ञान देने की प्रथा बहुत सिद्ध रही है । ऐसा नहीं कि ज्ञान न दिया जाता हो ज्ञान तो करोड़ों स्वयं का सब भी होता है, परन्तु ज्ञान में देश, कास और पाप का ध्यान नहीं रखा जाता । इससे यह ज्ञान काम की अर्थात् पर

हानि करता है। जिनको दान दिया जाता है, वे भी खराब होते हैं, और देश की दशा के विगाड़ में ही वे उस दान को खर्च करते हैं। इस लिए दानदाताको कोई अच्छा फल नहीं होता। महाभारत में कहा है—

अपात्रेभ्यस्तु दत्तानि दानानि सशङ्कन्यपि ।
 वृथा भवन्ति राजेन्द्र भस्मन्याज्याहुतिर्यथा ॥
 महाभारत

अर्थात् अपात्र को चाहे बहुत ज्यादा दान दिया जाय, पर उसका कोई फल नहीं होता—वह इस प्रकार व्यर्थ जाता है कि जैसे राख में कोई घी की आहुतिया डाले। इसलिये पात्रापात्र का विचार अवश्य करना चाहिये—

पात्रापात्रविवेकोऽस्ति धेनुपन्नगयोर्गथा ।
 नृणात्संजायते क्षीरं क्षीरात्सजायते विपम् ॥

पात्रापात्र का विवेक ऐसा है, जैसे गौ और सर्प का। गौ को आप घास खिलाएंगे, तो उससे दूध पैदा होगा, और साप को आप दूध पिलायेंगे, तो उससे विष पैदा होगा। इसी प्रकार से सुपात्र को यदि आप थोड़ा सा भी दान देंगे, तो वह आपको अच्छा फल देगा—वह अच्छे कर्मों में खर्च करेगा, इससे देश का हित होगा, और यदि आप कुपात्र को देंगे, तो वह भोग-विलास, दुराचार में खर्च कर देगा, जिससे सब को हानि पहुँचेगी। अब देखना चाहिये, सुपात्र का क्या लक्षण है। कैसे मालूम हो कि यह सुपात्र है। व्यासजी कहते हैं—

न विद्यया केवलया तपसा वापि पात्रता ।
 यत्र वृत्तमिमे चोभे तद्धि पात्रं प्रकीर्तितम् ॥

अर्थात् न केवल विद्या अथवा न केवल तप से ही पात्रता की परीक्षा हो सकती है, बल्कि जहाँ पर विद्या और तप दोनों

मौजूद हाँ यही सुपात्र है। क्योंकि केवल बिद्या ज्ञान से मा मनुष्य बुराबारी हो सकता है, और केवल तप होने से भी मनुष्य पात्रपुत्री हो सकता है। इस लिए जिस व्यक्ति में बिद्या भी है, और तप भी है—मर्यात् ओ पिदान् और तपस्यो, सदा बारी पतोपकारी है, यही ज्ञान का पात्र है। इसके विरुद्ध मूर्ख बुराबारा का ज्ञान देने से पाप छगता है।

अच्छा अब देखना चाहिये कि, छात्थिक ज्ञानों में धेष्ठ ज्ञान कीन कीन से है, इस बिषय में भिन्न भिन्न श्रुतियों के वचन देखिये :—

गोबुधं वाटिकापुष्पं बिद्याद्वारादं बबम् ।

बावाविष्वते बिन्मस्तावाव विवस्वति ॥

मर्यात् गो-जैस का बुध, वाटिका के फल-पुष्प, बिद्या कुर्ष का जन्म, धन इत्यादि चीजें मिल्य ज्ञान देने से पड़ती हैं; और न देने से नाश हो जाती है। फिर कहते हैं :—

अव्यवहारव दुष्कारव बिभ्रामपूहमन्ववि ।

तेतुः प्रविष्टियो भव तेन सर्वं बधीद्वम् ॥

जो मनुष्य कुर्ष, ताम्बा, बावड़ी, इत्यादि अव्यवहार, फल-फूल, छाया देनेवाले वृक्ष भीषणात्म्य, धर्मशाळा इत्यादि बिभ्रामपूह श्रुतियों इत्यादि में पुढ कबवाते हैं, वे मानों सारे संसार पर अपना प्रभाव स्थापित करके सब को कष्ट में करते हैं। जिस प्राणी को जिस बीज का ज्ञान कर के सन्तुष्ट करना चाहिये, इस बिषय में देखिये —

देवं नेवज्जमात्तन्व परिकल्पन्व वासपम् ।

वृत्तित्त्व व वापीर्षं श्रुतिकन्व व भोजन्म् ॥

रोम्भियों की भीषधि-ज्ञान द्वारा सेवा करनी चाहिये। हारे पक्षे को स्थान, भोजन इत्यादि देकर सन्तुष्ट करना चाहिये।

प्यासे को पानी और भूखे को अन्न देना चाहिए। सब दानों में अन्नदान श्रेष्ठ है :—

यस्मादन्नात्प्रजाः सर्वा कल्पे कल्पेऽसृजत्प्रभु ।

तस्मादन्नात्परं दानं न भूतं न भविष्यति ॥

परमात्मा कल्प कल्प में अन्न से ही सब प्राणियों की उत्पत्ति, पालन और रक्षण करता है, इसलिए अन्नदान से श्रेष्ठ और कोई दान न हुआ है, और न होगा। परन्तु अन्नदान से भी एक श्रेष्ठ दान है। ऋषि कहते हैं —

अन्नदान पर दानं विद्यादानमत परम् ।

अन्नेन क्षणिका तृप्तियांज्जीवन्तु विद्यया ॥

अन्नदान निस्सन्देह श्रेष्ठ दान है, परन्तु विद्यादान उससे भी श्रेष्ठ है, क्योंकि अन्नदान से तो क्षण भर के लिए ही तृप्ति होगी— फिर भूख तैयार है—परन्तु विद्यादान से जीवन भर के लिए सन्तोष हो जायगा। इसी लिए महर्षि मनु कहते हैं —

सर्वेषामेष दानानां ब्रह्मदानं विशिष्यते ।

वार्यन्नगोमहीवासस्त्रिलकाचनसर्पिषाम् ॥

मनु०

अर्थात् ससार में जितने दान हैं—जल, अन्न, गौ, पृथ्वी, वस्त्र, तिल, सुवर्ण और घृत आदि—सब में विद्यादान श्रेष्ठ है। इस लिए तन, मन, धन, सब लगा कर देश में विद्या की वृद्धि करनी चाहिए। एक दान और भी श्रेष्ठ है, और वह है अभयदान। ससार में अत्याचारी लोग निर्बल और गरीब लोगों पर रात-दिन जुल्म करते रहते हैं। उनपर दया करके, अत्याचारियों के चंगुल से छुड़ाकर, उनको अभयदान देना परम पवित्र कर्तव्य है। इस विषय में ऋषियों ने कहा है :—

अभयं सर्वं भूतेभ्यो यो ददाति दयापर ।

तस्य देहाद्विमुक्तस्य न भयं विद्यते क्वचित् ॥

अर्थात् जो दयालु मनुष्य सब प्राणियों को अन्नप्राण देता है उसको कमी भी किसी स मय नहीं होता ।

राजस दान

बहु प्रत्युत्तरार्थं कस्मुरित्वा वा युवा ।

दीकृतं च परिहृय्य तदात्ममुदाहृत्य ॥

गीता

जो उपकार का फल पाने के लिए, फल की इच्छा से और बड़े कष्ट से दिया जाता है, वह राजस दान है । ऐसा दान त्याग्य है ।

तामस दान

अज्ञानेन वशात्कामयात्राभ्यस्य दीकृतं ।

अज्ञानेनमन्वातं त्वामसमुदाहृत्य ॥

गीता

ऐश्यात्कामयात्र का विचार न करके जो दान दिया जाता है, जिस दान में उत्कार नहीं है, अपमान से मरा हुआ है, वह तामस दान है । बहुत भोग अत्याय से दूसरों का मन हरण कर के दानपुण्य करते हैं, पर ऐसे दानपुण्य से उनको कुछ फल नहीं हो सकता । ऐसे दान के लिए कहा है —

अज्ञानेन कर्त्तव्यं वा परिभ्य प्रकथयति ।

स दानं नरकं वाति कर्त्तव्यं तदात्मस्य ॥

अर्थात् जो दूसरों का मन हरण करके—अत्याय से जब कामाकर दानधर्म करता है, वह दान नरक को जाता है, क्योंकि जैसी जिसकी कमाई होती है, वैसा ही उसका फल होता है ।

इस लिए स्वात्मपूर्वक, अपने सच्चे परिश्रम से दानोपादान करके सात्त्विक दानधर्म करना ही मनुष्य का कर्तव्य है ।

तप

हम कह चुके हैं कि, सत्कर्मों के लिए, अर्थात् धर्माचरण के लिए, कष्ट सहना ही तप है। तप का इतना ही अर्थ नहीं है कि, कड़ी धूप में बैठकर, अपने चारों ओर से आग जलाकर, पञ्चाग्नि तापो। यह तामसी तप है। इससे कुछ भी लाभ नहीं—हा इतना लाभ हो सकता है कि, शरीर को आंच सहने की आदत पड जावे। इसी तरह नाना प्रकार के कठोर व्रतों का आचरण करने से भी कोई विशेष लाभ नहीं। हां, यदि किसी ऊचे उद्देश्य के पूर्ण होने में ऐसे तपों से सहायता मिलती हो, तो और बात है। अन्यथा ऐसे तपों को तामसी ही कहना चाहिए। भगवान् कृष्ण गीता में कहते हैं —

अशास्त्रविहितं घोरं तप्यन्ते यो तपो जना ।

दम्भाहंकारसयुक्तं कामरागबलान्विता ॥

कर्पयन्त शरीस्थं भूतग्राममचेतस ।

मा चैवान्त शरीरस्थं तान् विदध्यासुरनिश्चयान् ॥

गीता ।

जो लोग वेदशास्त्र की मर्यादा को छोड़ कर घोर तप में तपा करते हैं—दम्भ, अहंकार से युक्त, काम और राग के बल से शरीर को और आत्मा को व्यर्थ कष्ट देते हैं, उनको राक्षस जानो। वे तपस्वी नहीं हैं। उनके चक्कर में कोई मत आओ। सात्त्विक, राजस और तामस, तीनों प्रकार के तप का वर्णन करते हुए भगवान् कहते हैं:—

श्रद्धया परया वस तपस्तत्रिविधं नरै ।

अफलाकाक्षिभियुक्तैः सात्त्विकं परिचक्षते ॥

सत्कारमानपूजार्थं तपो दम्भेन चैव यत् ।

क्रियते तदिह प्रोक्तं राज्ञं कथमाश्रयम् ॥
 मृत्युपादेनात्मनो वत्पीडना क्रियते तदा ।
 परन्वोत्सादनार्थं वा तदामस्तुसाहजम् ॥
 पीडा

अर्थात् सज्जन पुत्र्य, फल की इच्छा न रखते हुए, उत्तम भद्रा के साथ कायिक, वाचिक और मानसिक आ तीनों प्रकार का तप करते हैं (जिसका वर्णन भागे किया गया है) उसी को सात्विक तप कहते हैं । इससे आत्मा का और लोभ का हानों का हित होता है ।

दूसरा राजस तप है । यह दम्न से किया जाता है अर्थात् मनुष्य ऊपर से दिखाता है कि, हम यह अच्छे कार्य में काह सह रहे हैं ; परन्तु अन्दर से इसका कोई स्वार्थ होता है । यह तप वह अपने सत्कार, मान भयना पूजा के लिये करता है— काह चाहता है कि लोग उसको अच्छा करें । यह तप मिथ्य है ।

तीसरा तामस तप है । किसी इठ में आकर मनुष्य अपने-आपको पीड़ा देता है, उसके मन में कोई अच्छा हेतु नहीं होता । अथवा किसी का मारण-मोहन-उच्चाटन करके के लिये तप करता है । आशक्त मां लोग किसी दुश्मन को मारने के लिये, अथवा उसको हानि पहुंचाने के लिये, अथवा अपना झूठा मुकद्दमा जीतने के लिये ही तप या पूजा-पाठ या पुरस्करण करती-कराते हैं । यह बिल्कुल अधम तप है ।

सात्विक तप का ही प्रह्व करना चाहिए । अल्प दो प्रकार के तपों का त्याग करना चाहिये । सात्विक तप किस प्रकार किया जाय—उसके कायिक, वाचिक, मानसिक तीन भेद किये गए हैं :—

शरीर का तप

देवद्विजगुरुप्राज्ञपूजनं शौचमार्जवम् ।

ब्रह्मचर्यमर्हिंसा च शारीर तप उच्यते ॥

देवता, द्विज, गुरु, विद्वान्, इत्यादि जो हमारे पूजनीय है, उनकी पूजा करनी चाहिए। उनको अपनी नम्रता, सुशीलता, आदर-सत्कार से सन्तुष्ट रखना ही उनकी पूजा है। शौच—यानी शरीर, वस्त्र, स्थान, मन, आत्मा, बुद्धि इत्यादि को सब प्रकार से पवित्र रखना, मन में कोई भी बुरा भाव कभी न आने देना। शरीर, वस्त्र, स्थान, इत्यादि निर्मल रखना। यही शौच है। आर्जव—नम्रता और सरलता धारण करना। छल-कपट छुटिलता, मिथ्या, दम्भ, पाखण्ड, इत्यादि का त्याग, यही आर्जव है। ब्रह्मचर्य—सब इन्द्रियों का सयम करते हुए वीर्य की रक्षा करना। सदैव विद्याभ्यास करते रहना। पर-स्त्री को माता समझना। यही ब्रह्मचर्य है। अर्हिंसा—प्राणिमात्र का वध करना तो दूर की बात है, उसको किसी प्रकार भी कष्ट न देना। यही अर्हिंसा है। इन सब गुणों का अभ्यास अपने शरीर और मन से करना और इनके अभ्यास में चाहे जितना कष्ट हो, उसको सहना—यही शारीरिक तप है।

वाणी का तप

अनुद्वेगकरं वाक्यं सत्यं प्रियद्वितं च यत् ।

स्वाध्यायान्मनसं चैव वाङ्मयं तप उच्यते ॥

ऐसी बात न बोलो, जिसको सुनकर उद्वेग पैदा हो, किसी का मन ऊब उठे। सच बोलो। जिस बात को जैसा देखा सुना हो, अथवा जैसा किया हो, अथवा जैसा तुम्हारे मन में हो, उसको वैसा ही अपनी वाणी-द्वारा प्रकट करो। क्योंकि वाणी को जो कोई बुराता है वह बहुत बड़ा चोर है। महर्षि मनु ने कहा है —

वाच्यं चिन्ता। सर्वं वाक्मूला वाचिचिन्ता।।

तं तु वा स्तेष्वेवात्वं च सर्वस्तेष्वङ्गवत् ॥ -

मनुजि।

अर्थात् संसार के सारे व्यवहार वाणी पर ही निर्भर हैं, सब वाणी से ही निकले हैं, और वाणी से ही ब्रह्मते हैं, इसलिये वाणी का जो मनुष्य बुरा होता है, (मिथ्या भाषण करता है, अथवा पाछिसी से गोकमाछ बोधता है) वह मानों सब प्रकार की खोरी कर चुका। क्योंकि वाणी से ही अब संसार के सब व्यवहार हैं, तो फिर उससे अब कौन सी खोरी बाकी रही! इह्य अथवा पाछिसीवाङ्ग मनुष्य ही उसके बड़ा खोर है।

अब इसके बाद वाणीके तप में प्रिय' बोधना भी है। परन्तु भगवान् ने 'प्रिय' के साथ 'हित' का पद भी रखा है। इसका तात्पर्य यह है कि, वाणी प्रिय भी हो साथ ही हित-कारक हो, क्योंकि यदि वाणी प्रिय तो हुई, परन्तु हितकारक न हुई, तो वह "अकुरुषुहार्ता" या चापलूसी कहलायगी। मनुजी ने इस विषय में कहा है -

सत्यं वाचं प्रियं वाचान्न वाचं सत्यमप्रियम् ।

प्रियं च वाचं न वाचं च कर्मः समाकृता ॥

मद् प्रमिति न वाच्यमप्रित्येव वा ज्ञेय ।

इत्येवैतं विचारं च न इत्येवैतमप्रित्येव ॥ -

मनु०

अर्थात् सत्य बोधो, और प्रिय बोधो। अप्रिय सत्य, अर्थात् जाने को जाना मत कहो। प्रिय हो, परन्तु दूसरे को प्रसन्न करने के लिये, ऐसा प्रिय मत बोधो कि जो मिथ्या हो। सवा मद् अर्थात् दूसरे के लिये हितकारी बचन बोधो। अर्थ को ही न

बढ़ाओ। विना मतलब ऐसी चाहियात बात मत करो कि किसी को बुरा मालूम हो। किसी के साथ विवाद भी न करो। आनन्द के साथ सवाद करो।

परन्तु कभी कभी ऐसा भी मौका आ जाता है कि किसी अच्छे उद्देश्य से अप्रिय सत्य भी बोलना पड़ता है। दूसरे का हित होता हो, तो अप्रिय सत्य—कड़वी सच्चाई—कहने में भी विशेष हानि नहीं। परन्तु यह बड़े साहस का काम है। जिनकी आत्मा मजबूत है, वही ऐसा काम कर सकते हैं। महाभारत, उद्योगपर्व, विदुरनोति में कहा है.—

पुरुषा बहवो राजन् सततं प्रियवादिन् ।

अप्रियस्य तु पथ्यस्य वक्ता श्रोता च दुर्लभः ॥

महाभारत

अर्थात् हे राजा धृतराष्ट्र, इस ससार में दूसरे को निरन्तर प्रसन्न करने के लिए प्रिय बोलनेवाले प्रशंसक—मिथ्या प्रशंसक भी—बहुत हैं, परन्तु जो सुनने में तो अप्रिय मालूम हो, किन्तु हो कल्याणकारी—ऐसा वचन कहने और सुननेवाला पुरुष दुर्लभ है।

इस लिए सज्जन और सत्यवादी पुरुष सदा खरी कहते हैं, और दूसरे से खरी सुनने की सहनशक्ति भी रखते हैं। परन्तु पीठ-पीछे दूसरे की निन्दा नहीं करते, किन्तु उसके गुणों का ही प्रकाश करते हैं। इसके विरुद्ध जो दुर्जन होते हैं, वे मुँह पर तो चिकनी-चुपड़ी बनाकर कहते हैं, और पीठ-पीछे उसकी बुराई करते हैं।

अस्तु। वाणी के तप में मुख्य बात यही है कि सत्य और हितकारक वचन कहे। फिर स्वाध्याय का भी अभ्यास रखे। अर्थात् ऐसे ग्रन्थों का पठन-पाठन सदैव करता रहे कि जिनसे ज्ञान, सदाचार, धर्म, ईश्वरभक्ति, इत्यादि की वृद्धि हो।

यही सब पापी का तप है।

मन का तप

यथा प्रसादाः सौम्यत्वं मौनमात्मनिविब्रवा ।

भाष्यसंशुद्धिः प्रियेकवचो मायसमुत्पन्ते ॥

धीरा

अर्थात् (१) मन को सबैव प्रसन्न रखना किसी प्रकार का भी तीव्र अथवा बाहरी आघात मन पर हो, चाहे भीतर की कोई बिम्बा बटे, अथवा बाहर से कोई ऐसी बात हो जिससे मन को बर्षा होमेवाला हो—प्रत्येक दशा में मन की शान्ति को स्थिर रखे। इसा ऐसा प्रसन्नचित्त रहे कि उसके प्रसन्नपदन को देखकर दूसरे को भी प्रसन्नता आजाये। (२) सौम्यता धारण करे, जैसे कन्दमा शीतल और भाङ्गावृक्षाएक होता है, वैसी ही शीतलता और अमन्यु को अपने मन में धारण करने का प्रयत्न करे। (३) मौन धारण करे। मौन-धारण का सबैव पद मत्सर नहीं होता कि मुँह बन्द रखे, कुछ बोले ही नहीं, किन्तु मौन का इतना ही मत्सर है कि जिसकी आवश्यकता हो, बतवा ही बोले, और यदि कमी कमी बिलकुल ही मौन रहा करे, तो और भी अच्छा। (४) आत्मनिग्रह—अर्थात् अपने भापको वरा में रखना—मन जब बुरे कामों की तरफ जाने लगे, तब उसको रोकना (५) भाष्यसंशुद्धि—अर्थात् मन में सबैव कल्याणकारी भावना आये कमो बुरी भावना को धारण न करे। यही सब मन का तप कहलाता है।

इस तीनों प्रकार के सात्त्विक तपों का प्रत्येक मनुष्य को अपने जीवन में अभ्यास करना चाहिए। सिध्दा इम से कल्याण चाहिए।

परोपकार

मनुष्य के सब धर्मों में श्रेष्ठ परोपकार-धर्म है। दूसरे के साथ भला करना, दीन दुखियों पर दया करना, अत्याचार से पीड़ित लोगों की सहायता करना मनुष्य का परम धर्म है। किसी विद्वान् ने कहा है कि—

अष्टादश पुराणानां व्यासस्य वचनद्वयम् ।

परोपकारः पुण्याय पापाय परपीडनम् ॥

अर्थात् अठारहो पुराणों में, जो महर्षि व्यास के रचे हुए माने जाते हैं, उनमें व्यास जी के दो ही वचन हैं, और ये वचन सब पुराणों के सारभूत हैं। वे दो वचन कौन हैं? यही कि, परोपकार के समान कोई पुण्य नहीं, और परपीड़ा के समान कोई पाप नहीं। गोस्वामी तुलसीदास जी ने भी कहा है —

परहित-सरित धर्म नहि भाई ।

पर-पीड़ा सम नहि अघभाई ॥

परोपकार के समान कोई धर्म नहीं, और दूसरे को दुख देने के समान कोई अधर्म नहीं। जो परोपकार का व्रत लेते हैं, वही सच्चे साधु हैं। एक बड़े साधु ने कहा है कि, जो दीनहीन दुखियों को और दूसरे से पीड़ित लोगों को अपना मानता है, उनकी सेवा में अपना तन मन धन अर्पण करता है, वही बड़ा साधु है और उसी में ईश्वर का निवास है। हमसे यदि कोई पूछे कि, ईश्वर कहाँ है, तो हम कहेंगे कि, वह सब से पहले परोपकारी पुरुष में है। ऐसे पुरुषों का अपना कोई नहीं होता— सब अपने होते हैं। जैसी दया ये अपने यज्ञों पर करते हैं, अपने दासदासियों पर करते हैं, वैसी ही दया दीन-दुखियों

पर अत्याचार-पीड़ित लोगों पर, करते हैं। अगर देखते हैं कि किसी देश के लोग अत्याचारी शासन से पीड़ित हो रहे हैं, उन पर क्रुम हो रहा है, तो वे उस क्रुम से उनको छुड़ाने का प्रयत्न करते हैं। परोपकारी पुरुष यदि देखता है कि अन्धे सूझे-झंगड़े मूख-प्यास और आड़े से मर रहे हैं, तो उन पर दया करके अपनी शक्ति भर उनका कुछ दूर करता है। परोपकारी पुरुष यदि देखता है कि अमुक जगह के लोग अज्ञान-अन्धकार में डूबे हुए हैं, उनको अपनी मुक्ति का मार्ग नहीं सुझाई दे रहा है तो वह ऐसे पुरुषों को विद्यादान देकर—उनको सुन्दर शिक्षा का प्रबन्ध करके—उनको उस अज्ञान से मुक्त करता है। परोपकारी पुरुष सारे संसार पर प्रेम करता है। उसका कोई अपना मित्र का पर नहीं है, जिस पर अधिक प्रेम करे। और यदि उसका कोई घर है, तो अपने घर पर भी उतना ही प्रेम करता है जितना दूसरों पर करता है। इसी छिपे कथा जाता है कि परोपकारी लोग विश्ववन्धु होते हैं। किसी कवि ने बहुत ठीक कथा है कि :—

धर्मं विद्यां परोपेति यन्ना मनुष्येषाम् ।

उदारचरितानां तद्वै न मनुष्यस्य ॥

अर्थात् यह अपना है यह पराया है—येसा हिसाब तो कुछ हृदय बाँटे लोगों का है, जिनका तंग दिख है। जो उदार-हृदय पुरुष हैं, जिनका दिख बड़ा है, उनके छिपे तो सारा संसार ही उनका कुमुम्ब है।

इतना ऊँचा भाव न किया जाये आखी सांसारिक व्यवहार पर ही ध्यान दिया जाये तो भी परोपकार करना मनुष्य का धर्म उल्टा है। क्योंकि मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है। मनुष्य का मनुष्य के साथ सम्बन्ध पड़ता है। किना

इसके काम नहीं चल सकता। एक मनुष्य यदि दूसरे के साथ उपकार न करे, तो उसका काम कैसे चले ? जब वह दूसरे के साथ उपकार करेगा, तब दूसरे भी उसके साथ उपकार करेंगे, परन्तु इस प्रकार का उपकार नीचे दर्जे का उपकार है। बदला लेने की गरज से यदि हमने किसी के साथ भलाई की, तो क्या की। सच्चा उपकार तो वही है, जो निष्काम भाव से किया जाय। परोपकार कोई अभिमान की बात नहीं है—यह नहीं कि हमने किसी दूसरे के साथ कोई उपकार किया, तो कोई बड़ा भारी काम कर डाला। परोपकार से दूसरे का हित तो पीछे होता है, पहले अपना ही हित हो जाता है। परोपकार से हमारी आत्मा उन्नत होती है, हमारे अन्दर सद्भाव बढ़ता है, हमारा हृदय विशाल होता है। नम्रता और सेवा का भाव बढ़ता है। इससे स्वयं हमारे हृदय को भी सुख होता है। इस लिए परोपकारी पुरुष स्वभाव से ही नम्र होते हैं। उनमें अभिमान नहीं होता। परोपकारी किस प्रकार नम्र होते हैं, इस विषय में किसी कवि ने बहुत ही सुन्दर एक श्लोक कहा है—

भवन्ति नम्र तत्र फलोद्गमै-

नधाम्बुभिर्भूरिषिलम्बिनो घना ।

अनुद्धता सत्पुण्या समृद्धिभिः

स्वभाव एवैष परोपकारिणाम् ॥

वृक्ष बड़े भारी परोपकारी हैं, उनसे हमारा कितना हित होता है। उनमें जब फल आते हैं तब वे नम्र हो जाते हैं। इसी प्रकार बादल भी हमारे उपकारी हैं, उनमें जब पानी भर आता है, तब वे भी नीचे लच जाते हैं। इसी प्रकार सज्जन पुरुष वैभव पाकर नम्र हो जाते हैं। परोपकारी पुरुषों का तो यह स्वभाव ही होता है। नम्रता उनका स्वभावसिद्ध गुण है।

सारांश यह है कि परोपकार करते हुये मनुष्य को भूमिमान नहीं होना चाहिये, और न सख्त परोपकारी का कमी भूमिमान होता है। भाग्यकृत् प्रायः ऐसा देखा जाता है कि जो बूखों के उपकार का काम करते हैं, वे समझते हैं कि हम तो कोई बड़े नास्मी हैं, सब लोगों को हमारा भादर करना चाहिये। परन्तु वास्तव में परोपकारी का भाव ऐसा होने से उसका सब परोपकार व्यर्थ हो जाता है।

परमात्मा की यह सारी सृष्टि परोपकारमय है। यहाँ पर अड़-बेठन स्थावर-अनूय, जितनी वस्तुयें हैं, सब परोपकार के लिये हैं। एक बूखों के उपकार से ही यह सृष्टि बस रही है। परमात्मा, हम सब का पिता ऐसा इयास्तु और परोपकारी है कि वह अड़ वस्तुओं से भी हमको परोपकार की ही शिक्षा देता है। किसी कवि ने क्या ही अच्छा कहा है:—

विबन्धि नदा स्वस्वैव नाम्ना ।
 स्वयं न वादन्ति जगन्नि रुद्राः ।
 वादन्ति कल्पं कस्तु वारिवाहा
 परोपकाराय छयं विकृतम् ॥

अर्थात् नदियाँ स्वयं पानी नहीं पीतीं। बूझ स्वयं फल नहीं खाते। वाक्क स्वयं घान्य नहीं खाते। हमारे लिये अड़ बरस कर फलक उपजाते हैं। एही प्रकार सख्तन पुख्योंके पास जो कुछ द्रव्य होता है, वे उसे अपने काम में नहीं खाते। उसे परोपकार में ही कर्त्त करते हैं।

परोपकारी पुख्य जब निष्काम होकर परोपकार करते हैं, तब कल्प लोग स्वयं ही भाकर उनकी सेवा करते हैं। जिसके अपना तब मम मन सब कुछ बूखों के लिये धर्यन कर दिया उसके लिये कमी किस बात की ? एक कवि ने कहा है:—

परोकरणं येषां जागर्ति हृदये सताम् ।

नश्यन्ति विपदस्तेषां संपदः स्युः पदे पदे ॥

जिस सत्पुरुष के हृदय में सदैव परोपकार जागृत रहता है, उसकी सारी विपदाएं नाश होजाती हैं; और पद पद पर उसको सम्पदा मिलती है। पर सम्पदा की उसको परवा कहा है? उसको तो सम्पदा और आपदा दोनों बराबर हैं। वह तो अपने परोपकार रूपी भारी कार्य में मग्न है। राजर्षि भर्तृहरि जी ने ऐसे परोपकारी कार्यकर्त्ता पुरुष की दशा का बहुत ही अच्छा वर्णन किया है —

क्वचिद्भूमौ शय्या क्वचिदपि च पर्यकशयनम् ।

क्वचिच्छाकाहारी क्वचिदपि च शाल्योदनरुचि ॥

क्वचित्कंधाधारी क्वचिदपि च दिव्याम्बरधरो ।

मनस्वी कार्यार्थी गणयति न दुःखं न च सुखम् ॥

अर्थात् ऐसा परोपकारी कार्यकर्त्ता पुरुष कभी तो पृथ्वी पर कङ्कड़ों में ही सो रहता है, कभी सुन्दर पलंग पर सोता है, कभी शाक खाकर रह जाता है, कभी सुन्दर सुस्वादु भोजन मिल जाते हैं, तो उनसे भी उसे उतना ही सन्तोष होता है—कभी कथड़ी-गुदड़ी ओढ़कर ही अपना काम चला लेता है; और कभी सुन्दर रेशमी वस्त्र धारण करने को मिल जाते हैं, तो उन्हीं को पहन लेता है। सच तो यह है कि वह अपने काम में मस्त रहता है। उसको ऐसे सुख-दुःख की परवा नहीं रहती।

पाठको, आइये, हम सब भी अपने जीवन में परोपकार के ब्रती बनें, और दोनों लोकों में सुखी हों।

ईश्वर-भक्ति -

जिसमें हम सब को और इस सारे संसार को रखा है, जिसकी प्रेरणा से सूर्य चन्द्र और तारामण्डल नियमित गति से अपना अपना कार्य करते हैं जिसकी इच्छासे वायु जाती है, मेष बरसता है, पृथ्वी में अन्न-वनस्पतियाँ उत्पन्न होती हैं, पशु परिवर्तन ठीक समय पर होता है, जिसकी शक्तिसे सागर अपनी मर्यादाओं में बंधे हैं, और जिसकी सत्तामात्र से सुर-वर मुनि सब अपना अपना व्यवहार करताते हैं, वही सर्वशक्तिमान्, पुण्योत्तम ईश्वर के नाम से पुकारा जाता है। वह सर्वभ्यापक और सर्वज्ञ है। जो कुछ हमको बिचार देता है, और जो कुछ नहीं बिचार देता सब में वह मरा हुआ है, और सब जगत् उसके पैर में है। उसकी ही सत्ता का सब अगाह अनुभव कर के जो मनुष्य संसार में पड़ता है, उस पर उसके विशेष कृपा होती है। वही मनुष्य सिद्धि को प्राप्त करता है। कृष्ण महाबाहू ने गीता में कहा है :—

एवा प्रवृत्तिवतामी येव सर्वमिदं कृतम् ।

सकृद्वन्द्य उन्मन्वच्च सिद्धिं किञ्चित् मानवा ॥

गीता

जिससे सम्पूर्ण मूढमात्र—सारे अक्षयैतन प्राणी—उत्पन्न हुए हैं, और जिसके सामर्थ्य से सारा अगात् पछ रहा है उस परम पुरुष परमात्मा की पूजा अपने कर्मोंके द्वारा करके ही मनुष्य सिद्धि को प्राप्त कर सकता है। इस छिप दिव-राज, चौबीसों घंटे, प्रत्येक कार्य करते हुए, बसका स्मरण रखना मनुष्य का कर्तव्य है। अपना सारा व्यवहार उसीके हेतु करके

अपने सब कर्म उसको समर्पित करने चाहिए। इसके सिवाय, प्रातःकाल और सायंकाल विशेष रूप से उसकी उपासना करने से चित्त प्रसन्न रहता है, हृदय में बल आता है; और परमात्मा की सर्वशुद्धता और सर्वव्यापकता का अनुभव कर के मनुष्य बुरे कर्मोंसे बचा रहता है। देगिये, उपनिषद्में कहा है—

स्वप्नान्तं जागरितान्तं घोभौ येनानुपश्यति ।

महान्तं विभुमात्मानं मत्वा धीरो न शोचति ॥

उपनिषद्

अर्थात् प्रातःकाल, सोने के अन्त में, और सायंकाल, जागृत अवस्था के अन्त में, जो धीर पुरुष उस महान सर्वव्यापक परमात्माकी उपासना और स्तुति करता है, उसको किसी प्रकार का शोच नहीं होता। इसलिए आयाजवृद्ध रीति पुरुष सब का यह परम धर्म है कि वह सुबह चारपाई से उठते ही और रात को सोने के पहले इस प्रकार ईश्वर की प्रार्थना करे—

त्वमेव माता च पिता त्वमेव ।

त्वमेव बन्धुश्च सखा त्वमेव ॥

त्वमेव विद्या द्रविणं त्वमेव ।

त्वमेव सर्वं मम देवदेव ॥

हे देवों के देव भगवान्, आप ही हमारे माता हैं, और आप ही पिता हैं, आप ही बन्धु हैं, और आप ही सखा हैं, आप ही विद्या हैं, और आप ही हमारे धन हैं। (कहा तक कहें) आप ही हमारे सर्वस्व हैं।

य प्रज्ञावस्त्रेन्द्ररुद्रमरुत स्तुन्वन्ति दिव्यै स्तवै-

र्वै साङ्गपदक्रमोपनिषदैर्गायन्ति यं सामगा ॥

ध्यानावस्थिततद्गतेन मनसा पश्यन्ति य योगिनो ।

यस्यान्व न चिदु सरासरगणा देवाय तस्मै नमः ॥

प्रिया वरुण, इन्द्र और मरुत्राज दिव्य स्त्रियों से जिसकी स्तुति करते हैं सामगायन करनेवाले लोग, पहल्य पद, क्रम और उपविष्टा के साथ यहाँ के द्वारा जिसका गान करते हैं, योग्यजन ध्यानावस्थित होकर, तद्वाकार मन से जिसकी देखते हैं सुर और असुर भी जिसका मन्त्र नहीं पाते, उस परम पिता परमात्मा को नमस्कार है।

ममस्ते षते ते अत्यन्तान्यत्र ममस्ते विते हर्षकोडाव्याय ।

ममोम्हैः कृतवान् मुक्तिमवाप्त्य ममो ममने ज्ञानि धारणात् ॥

संसार को अत्यन्त करनेवाले उस अनादि, अमन्त परमात्मा का नमस्कार है। सम्पूर्ण लोकों के भाग्यमूठ उस वैतन्व्यस्वरूप परमात्मा को नमस्कार है। मुक्ति देनेवाले उस अश्रैतन्व्य को नमस्कार है। हे सदासर्वादा रहनेवाले, सर्वव्यापी ईश्वर, आपकी नमस्कार है।

त्वमेव वारुण त्वमेव वरुण त्वमेव कस्तुराकान् ज्वलन्वसम् ।

त्वमेव अश्वत्थु वामु प्रायु त्वमेव न विरक्तं विविक्तम् ॥

हे भगवान्, तुम ही एक शरणा देनेवाले हो तुम ही एक भक्ति करने योग्य हो तुम्हीं एक संसार का पावन करनेवाले और प्रकाशस्वरूप हो तुम्हीं एक संसार की रक्षा पावन और हरण करनेवाले हो तुम्हीं एक सब से श्रेष्ठ, विशुद्ध और निर्विकल्प हो—मर्यात् तुम्हारा कभी नाश नहीं है, और तुम कल्पना से बाहर हो।

जगतां धर्म भीरुर्न भीत्यानां धर्मः प्राणिनां पादवं पशुनाम् ।

महोत्तमैः जगतां जितान् त्वमेव परैर्न परं उच्यते उक्तावात् ॥

तुम्हीं एक भयों के भय और भीयजोंके भीयज हो सब प्राणियों के एकमात्र गति तुम ही हो पादवों को भी पावन करनेवाले

हो, बड़ों से बड़ों के भी तुम ही एक नियन्ता हो। तुम श्रेष्ठों में भी श्रेष्ठ हो, और रक्षकों के भी रक्षक हो।

त्वमादिदेव. पुरुष. पुराणस्वमस्य विश्वस्य परं निधानम्।

वेत्तासि वेद्यं च परं च धाम त्वया ततं विश्वमनन्तरूप ॥

हे अनन्तरूप, तुम्हीं आदिदेव हो, तुम्हीं पुराण पुरुष हो, तुम्हीं इस विश्व के परम निधान हो। तुम्हीं सब के जाननेहारे हो, और (इस ससार में) जो कुछ जानने योग्य है, सो भी तुम्हीं हो। तुम्हीं परम धाम हो, और (हे भगवन् !) तुम्हीं ने इस सारे संसार को फैलाया है।

पितासि लोकस्य चराचरस्य त्वमस्य पूज्यश्च गुर्णारीयान्।

न त्वत्समोऽस्त्यन्यधिक कुवोऽन्योलोकत्रयेऽप्यप्रतिमप्रभाव ॥

भगवन् ! इस चराचर जगत् के पिता तुम्हीं हो, और तुम्हीं सब के पूजनीय सद्गुरु हो। तुम्हारे समान और कोई नहीं— फिर तुम से बड़ा और कौन हो सकता है? तीनों लोक में आपका अनुपम प्रभाव है।

इस प्रकार सुबह-शाम परमात्मा की स्तुति और प्रार्थना करके वेदमन्त्र से इस प्रकार उससे वरदान मांगना चाहिए.—

तेजोऽसि तेजो मयि धेहि । धीर्यमसि धीर्यं मयि धेहि । बलमसि बलं मयि धेहि । भोजोऽयोजो मयि धेहि । मन्युरसि मन्युं मयि धेहि । सहोऽसि सहो मयि धेहि ।

हे परमपिता परमात्मन्, आप प्रकाशस्वरूप हैं, कृपा कर मुझ में प्रकाश स्थापन कीजिए। आप अनन्त-पराक्रम-युक्त हैं, इस लिए मुझ में अपने कृपाकटाक्ष से पूर्ण पराक्रम धरिये। आप अनन्तबलयुक्त हैं, इस लिए मुझ में भी बल धारण कीजिए। आप अतन्तसामर्थ्ययुक्त हैं, इस लिए मुझको भी

सामर्थ्य कीजिए। भाप पुत्र कार्यों और पुत्रों पर क्रोध करने वाले हैं, मुझको भी वैसा ही ब्याहिये। भाप किन्दास्तुति और अपनी अपराधियों की सज़ा करनेवाले हैं, हुआ करके मुझको भी वैसा ही सज़ाशुलीक ब्याहिये।

यही ईश्वर-भक्ति का फल है कि सब ईश्वरीय गुणों को हम अपने हृदय में धारण करें। ईश्वर का सच्चा भक्त बही है, जो उसकी आज्ञा के अनुसार बहककर, स्वयं सुख पाता और संसार को सुखी करके हुए अपनी जीवनयात्रा पवित्रतापूर्वक पूर्ण करता है।

गुरुभक्ति

माता पिता आचार्य और ब्रह्मणे लोग हमसे विद्याभुक्ति और भक्तता में बड़े हैं, सब गुरु हैं। उनका आदर-सम्मान और सेवा करना धर्म है। बड़े लोगों की सेवा से क्या लाभ होता है, इस विषय में मनुजी कहते हैं :—

अभिवादनधीकृत्यं किञ्च हृद्योऽस्तेभिरः ।

अन्वारी कृत्यं धर्म्या भानुर्निवाच्योऽप्यम् ॥

॥२॥

अर्थात् जो लोग भद्र और सुशील होते हैं, और प्रति किञ्च विद्वान् बृह पुत्रों की सेवा करते रहते हैं, उनकी चार बातें बढ़ती हैं—मायु, विद्या, धन और बल।

बृह लोगों के पास बैठने-उठने उनकी सेवा करने, उनकी आज्ञा मानने से वे ऐसा उपदेश करते हैं, और स्वयं भी उनका सदाचरण देखकर हमारे ऊपर, ऐसा प्रभाव पड़ता है कि

जिससे हमारी आरोग्यता और चित्त की शान्ति बढ़ती है, जिससे आयु की वृद्धि होती है। उनका अनुभव, ज्ञान इतना प्रभावशाली होता है कि उसको देख सुनकर हमारी विद्या और जानकारी बढ़ती है, और इसी प्रकार उनका सत्संग करने से यश और उनका ब्रह्मार्च्य, इत्यादि को देखकर शारीरिक बल बढ़ता है। शतपथ ब्रह्मण में कहा है —

मातृमान् पितृमान् आचार्यमान् पुरुषो वेद ।

शतपथ०

अर्थात् जिसके माता-पिता, आचार्य इत्यादि गुरुजन विद्वान्, शूरवीर और बुद्धिमान हैं, वही पुरुष ऐसा हो सकता है। वृद्धों को देखते ही, उनका किस प्रकार अभिवादन और स्वागत सत्कार करना चाहिए, इस विषय में भगवान् मनु कहते हैं —

अभिवाद्येद् वृद्धाश्च दद्याश्च वासमं स्वकम् ।

कृतांजलिस्पासीत गच्छत पृष्ठतोऽन्वियात् ॥

मनु०

अर्थात् जब वृद्ध लोग हमारे पास आवें, तब उठकर बड़ी नम्रता के साथ उनको प्रणाम करें, और अपना आसन उनको देकर स्वयं उनके नीचे बैठें, फिर बड़ी नम्रता और सुशीलता से उनसे वार्तालाप करें, उनका सत्कार करें, और जब वे चलने लगें, तब कुछ दूर तक उनके पीछे पीछे जावें ।

ये विनय और नम्रता के भाव मनुष्य में श्रद्धा और भक्ति पैदा करते हैं। परन्तु प्रश्न यह है कि हम वृद्ध किसको समझें? क्या जिसके बाल पक गये हैं, रीढ़ झुक गई है, शरीर में झुर्रियां पड़ गई हैं, वही वृद्ध है? महर्षि मनु इसका उत्तर देते हैं :—

न हास्यैर्न चरितैर्न विभेव न कल्पयि ।
 अल्पवचनैरे धर्म बोधुषावा स नो महान् ॥

सु

अर्थात् जिसकी उन्न ज्यारहा है, अथवा जिसके बाह सखे
 हो गये हैं, अथवा जिसके पास धन अथवा जन बहुत हैं, वहाँ
 सुख नहीं है, किन्तु अल्पियों के मत से बूढ़ यहाँ है जो विद्या,
 धर्म विद्या अतुमय सदाचार, इत्यादि बातों में यज्ञा है—
 फिर चाहे यह पाठ, सुख, युवा, स्त्री पुरुष—कोई हो, उसकी
 मक्ति और सेवा मनुष्य को अक्षय परती चाहिए। बड़े-बड़ों
 के साथ बँसा यत्नाप करना चाहिए, इस विषय में व्यास जी
 ने महाभारत में कहा है —

गुरुष्वं शैव विरिण्णो न कर्तव्यं कदाचन ।
 अनुमान्य प्रसाधस्य गुरु कुहो बुधिष्ठिर ॥

महाभारत

अर्थात् हे महाभारत बुधिष्ठिर, बड़े-बड़ों के साथ कर्मो इह और
 धार्मिकता नहीं करना चाहिए। वे कदाचित् काय भी करें,
 तो स्वयं नम्रता धारण करके उनको प्रसन्न करना चाहिए।
 सब गुरुओं में श्रेष्ठ माता है। इसके समान कोई देवता संसार
 में नहीं है। महाभारत निर्वाणपर्यं में कहा है —

गुरुष्वं शैव कर्षेवा माता परमश्रे गुरु ।
 माता गुरुष्वं भूतो वात् तिलोत्तरज्ज्या ॥

महाभारत

सब गुरुओं में माता परम श्रेष्ठ गुरु है। परन्तु उसके बाद फिर
 पिता का अम्बर है। माता पृथ्वी से मी गुह्यतर है, और
 पिता आकाश से मी ऊँचा है। दोनों का आदर करना चाहिए।

परन्तु आचार्य का दर्जा भी कुछ कम नहीं। व्यासजी कहते हैं —

शरीरमेतौ सृजतः पिता माता च भारत ।

आचार्यशास्त्रा या जाति सा सत्या साऽजराऽमरा ॥

महाभारत

पिता-माता तो केवल शरीर को ही जन्म देते हैं; परन्तु आचार्य ज्ञान और सदाचार, इत्यादि की शिक्षा देकर मनुष्य को जो जाति देता है, वह सत्य, अजर और अमर है इसलिये —

शुश्रूषते य पितरं नासूयते कदाचन ।

मातरं भ्रातरं धापि गुरुमाचार्यमेव च ॥

तस्य राजन् फलं विद्धि स्वर्लोके स्थानमचित्तम् ॥

महाभारत

हे राजन्, जो मनुष्य माता-पिता, भाई, आचार्य, इत्यादि बड़े बड़े स्त्री-पुरुषों का आदर-सत्कार करता है, उनकी सेवाशुश्रूषा करता है, उनसे कभी द्वेष नहीं करता है, उसको परम सुख प्राप्त होता है। इसलिये—

आपयेन्मृदुला घाणीं सर्वदा प्रियमाचरेत् ।

पित्रोराज्ञानुसारी स्यात्स पुत्र कुलपावन ॥

महाभारत

माता-पिता इत्यादि बड़े लोगों के सामने सदा मधुर वचन बोलो; और सदा ऐसा ही आचरण करो, जो उनको प्रिय हो। जो पुत्र माता-पिता की आज्ञा में चलता है, वह अपने कुल को पवित्र करता है। माता-पिता अपने पुत्रों से क्या आशा रखते हैं? क्या उनको कोई स्वार्थ है? नहीं, वे तो यही चाहते हैं कि, सब प्रकार हमारे पुत्र और पुत्री सुखी रहें। महर्षि व्यास जी इस विषय में कहते हैं —

स्वदेश-भक्ति

अपनी जन्मभूमि पर श्रद्धा और भक्ति होना भी मनुष्य का एक बड़ा भारी गुण है। जिस देश में हम पैदा हुए हैं, जिसके अन्न जल से हमारा शरीर पला, जिस देश के निवासियों के सुख-दुख से हमारा गहरा सम्बन्ध है, उस देश के विषय में अभिमान होना—उसकी भक्ति करना—हमारा परम कर्त्तव्य है। कहा है कि—

जननीजन्मभूमिश्च स्वर्गादपि गरीयसी ।

अर्थात् जननी और जन्मभूमि स्वर्ग से भी श्रेष्ठ है। स्वर्ग का सुख तो केवल हम कानों से सुनते मात्र हैं, उसका कुछ भी अनुभव इस जन्म में हमको नहीं है, परन्तु अपनी मातृभूमि का दिया हुआ सुख हम पद पद पर अनुभव करते हैं। घी, दूध, मिठाई, सुन्दर अन्न-वस्त्र, इत्यादि इस भूमि से पाकर हम सुखी होते हैं। अपनी जन्मभूमि का स्वास्थ्यवर्धक जलवायु पाकर हम आनन्दित होते हैं। नाना प्रकार की ओषधियाँ प्रदान करके यही भूमि रोग के समय हमारी रक्षा करती है। इसके मनोहर प्राकृतिक दृश्यों को देखकर हमारा चित्त प्रफुल्लित होता है। जन्मभूमि के तीर्थस्थानों पर जाकर हम अपनी आत्मा और मन को पवित्र करते हैं। इसी की गोद में उत्पन्न होनेवाले साधु-महात्माओं की सत्संगति करके हम अपने चरित्र को सुधारते हैं। इसी भूमि पर प्राचीन काल में जो ऋषि-मुनि तथा विद्वान् हो गये हैं, उनके नाना प्रकार के शास्त्रों को पढ़कर हम अपना ज्ञान बढ़ाते हैं। इसी देश से उत्पन्न होने वाली वस्तुओं से हमको जीविका मिलती है। कहां तक कहें,

स्वदेश का मनुष्य के जीवन से पद पद पर सम्बन्ध है, और इसीलिए विद्वानों ने इसको स्वर्ग से भी श्रेष्ठ माना है।

हमारा देश भारतवर्ष है। इसका प्राचीन नाम भार्यावत् है। "भार्यावत्" अर्थात् पुण्यक्षेत्रों" इत्यादि कहकर हम प्रायः शुभकार्य पर संकल्प पढ़ा करते हैं। इसका भी यही तात्पर्य है कि, हम इस पुण्यक्षेत्र-भार्यावत् को सर्वत्र याह रवें। कोई भी शुभ कार्य करे, अपने देश का अधिकपूर्वक स्मरण करे।

भार्यावत् का अर्थ यह है कि जहाँ कार्य लोग बारबार भ्रष्टार केवें। कार्य कहते हैं श्रेष्ठ को। इस प्रकार यह सृष्टि के भाषि से ही श्रेष्ठ पुरुषों के भ्रष्टार की भूमि है। जब सम्पूर्ण संसार भ्रष्टार में था जो लोग मात्र हमको सम्यक बनाये जाये हैं, वे जिस समय जमझी अवस्था में फिरे थे उस समय भार्यावत् में अग्नि-मुनि और ब्रह्मी लोग हुए थे, और यही से ब्राह्मण और क्षत्रिय का प्रकाश फैला था। इसी हमारी मातृभूमि के गणना में पड़का प्रमात हुआ। यही के लोचनों में पड़के वेदमंत्रों का गान हुआ। ब्रह्म धर्म और नीति का प्रचार सारे संसार में यही से हुआ। अर्थात् मनु ने कहा है :—

कारं कारुण्यं चकारामकामकाम्यम् ।

स्वं स्वं परित्रं विद्वेषत् इतिर्वा सर्वमात्मना ॥

मनु

अर्थात् इसी देश के उत्पन्न हुए प्राणियों—अर्थात् विद्वानों से सम्पूर्ण पृथ्वी के लोग अपने अपने करिब की शिक्षा लें। मनुजी के इस कथन से मान्य होता है कि, उस समय, सृष्टि के भाषि में, हमारा ही देश सब से अधिक सुसम्य और विद्वान्

था। इसलिए इसका नाम पुण्यक्षेत्र और सुवर्ण-भूमि था। इस सुवर्णभूमि में जितने विदेशी लोग जय जय आये, खूब धनवान् बन गये। पारसमणि यही भूमि है। लोहरूप दखिरी विदेशी इसको छूते ही सोना, अर्थात् धनाढ्य, बन जाते हैं। अब भी यहाँ बात है।

किसी समय इस देश के राजा—क्षत्रिय लोग—सम्पूर्ण पृथ्वी में राज्य करते थे। विदेश में जाकर उन्होंने अपने उपनिवेश बसाये थे, और अपनी सभ्यता तथा धर्म का प्रचार किया था। महाभारत के वर्णन से जान पड़ता है कि, पाण्डवों ने अपने दिग्विजय में अनेक विदेशियों को जीता था। वही आर्यावर्त की पवित्र भूमि इस समय पराधीन हो रही है। सब कहते हैं—“पराधीन सपनेहु सुख नहीं”। इसलिए आज इस देश के निवासी बात बात में दूसरों का मुँह ताक रहे हैं। यह सब हमारे ही कर्मों का फल है। हम इस बात को भूल गये कि हमारा देश एक कर्मभूमि है। हम कर्म को छोड़कर भोग में पड़ गये; और झूठे कर्म, अर्थात् भाग्य, पर भरोसा करके बैठे रहे। आपस की फूट ने हमारी अकर्मण्यता को सहारा दिया, और हम अपना सब कुछ खो बैठे।

भाइयो, अब तो जग जाओ, अपनी जन्मभूमि की प्राचीन महिमा और गौरव का स्मरण करो। कर्म करने में लग जाओ। इस भारत-भूमि में जन्म पाना बड़े सौभाग्य की बात है; क्योंकि कर्म हम यहीं पर कर सकते हैं। अन्य सब देश भोग-भूमि हैं। कर्मभूमि यही है। कहा है कि—

दुर्लभं भारते जन्म मानुष्यं तत्र दुर्लभं ।

अर्थात् इस भारतवर्ष में—इस आर्यभूमि में—जन्म पाना दुर्लभ

है और फिर मनुष्य का जन्म-पाना तो और भी दुर्लभ है; क्योंकि मनुष्य कर्म इसी जन्म में और इसी भूमि में कर सकता है, और कर्म करते हुए ही मनुष्य को सौ वर्ष तक जीवित रहने के लिए यत्पूर्व में कहा है :—

दुर्लभमेव कर्मानि त्रिपीडितेभ्यश्च समाः ।

एकत्वमिदं मान्वाण्येतोऽस्ति न कर्म किञ्चित् करे ॥

यद्वा

मर्यात् मनुष्य कर्म करता हुआ ही सौ वर्ष तक जीने की सम्भवापा करे, क्योंकि ऐसा करने से ही उसको कर्म बाधा नहीं रहेगी। वह कर्मों से मुक्त नहीं होगा।

भारतभूमि पराधीनता में पैंसी हुई है। इसको पुनर्जागो। इसके बीर पाठक बनो, और स्वकर्म करके इस लोक और परलोक को सफल करो। भारत-भूमि में जन्म लेने के लिए एक तरसते हैं। वे इसके गीत गाते हैं —

एतन्नि देवाः किञ्च मीळन्मयि,

कन्वान्तु वे भारतभूमिस्थाने ।

स्वदेशेऽर्जुन स्वदेशेऽर्जुन,

एतन्नि क्वसु तुक्ताः क्वचनम् ॥

मर्यात् देवगण इस भारतभूमि के पुण्यस्थित होते हैं। और कहते हैं कि, हे भारतभूमि, तू कल्प है, धन्य है। स्वर्ग और मोक्ष का फल सम्पादित करने के लिए वे देवता श्रेय अपने देवपुत्र से यहां मनुष्य-जन्म धारण करने माते हैं। पाठकों, ऐसी पुण्यभूमि में बड़े मान्य से हमने मनुष्य की देह पाई है। अब इसको सार्थक करो। जिस तरह हो सके, माता को महान् संकट से पुनर्जागो। यह दीनहीन होकर धर्मपूर्ण देशों से तुम्हारी ओर देख रही है। इसकी सुध लो। उन मन धन,

चल-वीर्य, सब खर्च करके स्वधर्म और स्वदेश की सेवा में लग जाओ। जब तक भारतभूमि का उद्धार नहीं होगा, संसार में शान्ति स्थापित नहीं हो सकती। भारत के उद्धार पर ही संसार के अन्य देशों की शान्ति निर्भर है। इसी देश ने किसी समय संसार को शान्ति और सुख का सन्देश दिया था, और फिर भी इसी की वारी है। परन्तु जब तक यह स्वयं अपना उद्धार न कर ले, दूसरे का उद्धार कैसे कर सकता है ?

इसलिए सब को मिलकर अपनी जननी-जन्मभूमि की सेवा में लग जाना चाहिए।

अतिथि-सत्कार

जिसके आने की कोई तिथि नियत न हो और अचानक आ जाय, उसको अतिथि कहते हैं। ऐसे व्यक्ति का आदर-सत्कार करना मनुष्य का परम धर्म है। परन्तु वह अतिथि कैसा हो ? धार्मिक हो, सत्य का उपदेश करनेवाला हो, संसार के उपकार के लिए भ्रमण करता हो, पूर्ण विद्वान् हो। ऐसे ही अतिथि की सेवा से गृहस्थ को उत्तम फल मिलता है। ऐसा अतिथि यदि घर में अचानक आ जाय तो—

संप्राप्त्याय स्वयित्ये प्रदद्यादासनोदके ।

अन्नं चैव यथाशक्ति सत्कृत्य विधिपूर्वकम् ॥

उसका सन्मान के साथ स्वागत करे। उसको प्रथम पाद्य, अर्घ्य और आचमनीय, तीन प्रकार का जल देकर फिर आसन, पर सत्कार पूर्वक विठाले। इसके बाद सुन्दर भोजन और उत्तमोत्तम पदार्थों से उसकी सेवा-शुभ्रूपा करके उसको प्रसन्न

करे। इसके बाद स्वयं मोक्षन करके फिर उस विद्वान् ब्रह्मिणि के पास बैठकर, नागा प्रकार के ज्ञान-विज्ञान के प्रश्न करते उससे धर्म धर्म काम, मोक्ष का मार्ग पूछे, और उसके उत्तरों से ज्ञान उठाकर अपना भाषरण सुपारे। यही ब्रह्मिणि-पूजन का फल है।

आजकल प्रायः बहुत से पाठकण्ठी साधु, संन्यासी बेरायी घूमा करते हैं और गृहस्थों के द्वार पर पहुँच जाते हैं, परन्तु इनमें से अधिकांश लोग पूर्ण और परमात्मा होते हैं। इनको ब्रह्मिणि नहीं समझना चाहिए। महर्षि मनु ने ऐसे लोगों की सेवा का निषेध किया है —

बार्धक्यो विस्मयन्वात् वेदाङ्गविद्यात् ज्ञानम् ।

हेतुज्ञानं बन्धुर्धनैश्च वाक् मात्रेणापि बार्धक्ये ॥

मनु

अर्थात् ऊपर ऊपर से साधु का भेष बनाये हुए, परन्तु मीठ से दुराचारी, वैश्विन्द्व भाषरण करनेवाले, बिकार की तरह परधन और परछी की तरह अगानेवाले, शठ-मूर्ख हठी, दुरात्मा, अभिमानी, माप जाने नहीं सूखरे की माली नहीं, कुतर्की, धर्म्य पकनेवाले बन्धुवृत्ति, कर्मज्ञा-भगत, ऊपर से शान्त दिखाई देंगे, परन्तु मौका पाते ही सूखरे का घात करें—इस प्रकार के साधु संन्यासी आजकल बहुत दिखाई देते हैं, और मूर्ख गृहस्थ स्त्री-पुरुष इनकी चुन में आकर अपना सर्वस्व बलि करते हैं, परन्तु महर्षि मनु कहते हैं कि इनका—

“वाक् मात्रेणापि बार्धक्ये”।

सुन्दार बार्धक्य से भी न करना चाहिए—अर्थात् इनसे अच्छी तरह बोझना भी न चाहिए। भावें, और अस्मानपूर्वक

चले जावें। क्योंकि यदि इनका आदर किया जायगा, तो ये और भी बढ़ेंगे, और अपने साथ ही साथ ससार को भी ले डूवेंगे।

ऐसे पाखण्डियों को छोड़कर यदि कोई भी सज्जन, फिर चाहे किसी कारण से वह हमारा शत्रु हो क्यों न बन गया हो, वह भी यदि कुसमय का मारा हमारे घर आ जाय, तो उसका भी आदर करना चाहिए। हितोपदेश में कहा है —

अरावप्युचितं कार्यमातिथ्यं गृहमागते ।

छेत्तुः पार्श्वगता छायां नोपसंहारते तह ॥

हितोपदेश

अर्थात् जैसे कोई मनुष्य किसी वृक्ष पर बैठा हुआ उस पेड़ को काट रहा हो, परन्तु फिर भी वह पेड़ उस मनुष्य के ऊपर से अपनी छाया को नहीं हटा लेता है, अपनी छाया से उसको सुख ही देता है, उसी प्रकार मनुष्य को उचित है कि शत्रु भी यदि अकस्मात् हमारे आश्रय को पाने के लिए घर आजाय, तो उसका भी आदर करे।

गृहस्थ के लिए अतिथि-यज्ञ सब से श्रेष्ठ माना गया है। घर्मग्रन्थों में कहा है —

न यज्ञैर्दक्षिणावद्भिर्घृह्णित्युश्रूयया तथा ।

गृहीस्वर्गमवाप्नोति यथा चातिथिपूजनात् ।

काष्ठमारसहस्रेण घृतकुम्भशतेन च ।

अतिथिर्पत्य भग्नाशस्तस्य होमो निरर्थक ॥

अर्थात् यज्ञ, दान, अग्निहोत्र, इत्यादि से गृहस्थ को उतना फल नहीं मिल सकता, जितना अतिथि की पूजा से। चाहे हजारों मन काठ और सैकड़ों घड़े घी से होम करे, पर यदि अतिथि

निराशा गया, तो उसका यह हाम व्यर्थ है। इस लिए भक्तिपि सत्कार अथवा करना चाहिए।

माम लो कि हम बड़े ब्रह्मिणी हैं हमको स्वयंभसे बाह्यबर्णों के पासने के लिए भय नहीं है, फिर हम भक्तिपि का क्या से किताये ? इस पर धर्म तो यही कहता है कि बाह्य बाह्यबर्णों मूर्खों मर जायें, और स्वयं मा मूर्खों मर जाय, पर भक्तिपि विमुक्त न सोंदे। हमारे पुराणों में तो भक्तिपि-सेवा के ऐसे उदाहरण हैं कि यदि भक्तिपि ने किसी गृहक की भक्तिपि-सेवा की परीक्षा देने के लिए उसके बाह्यक का मांस मांगा, तो वह ना गृहक ने दिया ! पर वे भक्तिपि मा इतने समर्थ हात थे कि बाह्यक को फिर जीवित करके बड़े जाते थे, पर बाह्यक न ता ऐसे भक्तिपि है, और न ऐसे भक्तिपि-सेवाक। भस्तु। यदि कुछ मा घर में न हो तो उसके लिए महाभारत में व्यासजी ने कहा है —

तृणादि भूमिच्छर्दं वाक् क्षुर्धं च सूता ।

कामनादि दीर्घं भोधिजन्ते कदाचन ॥

महाभारत

अथान् तुण, मूमि, अथ भीर सुस्वर सन्धे बहान, ये बार बातें तो किसी भी ब्रह्मिणी से भी ब्रह्मिणी मछे भावनी के घर में खीपी ही। इन्हीं से भक्तिपि का सत्कार करे—अर्थात् तुण का भासक हैकर उसको कम से कम शीतल अथ से ही प्रसन्न करे, और फिर उससे ऐसी ऐसी बातें करे, जिससे उसका बिल समुद्र हो। बाह्यक्य मुनि ने अपनी नीति में कहा है —

शिक्षाकामदानेन धर्मं तुच्छमिह जन्ता ।

जन्तान्नेव कदाप्यं कल्पे किं ब्रह्मिणा ॥

बाह्यक्यनीति

अर्थात् प्रिय वचन बोलने से ही सब प्राणी सन्तुष्ट हो जाते हैं । इसलिए कम से कम प्रिय वचन तो सब को अवश्य ही बोलना चाहिए । वचन में क्या दरिद्रता ?

यह तो गये-गुजरें हुए घरों की बात हुई, परन्तु जो समर्थ गृहस्थ हैं, उनको विधिपूर्वक अतिथि-सत्कार करना चाहिए । ऐसा नहीं कि, स्वयं आप तो बढ़िया-बढ़िया भोजन करें, और अतिथि को मामूली भोजन करा दें, इस विषय में महर्षि मनु ने कहा है —

न वै स्वयं तदशनोयादतिथिं यन्न भोजयेत् ।

धन्यं यशस्यमायुष्यं स्वर्ग्यं चातिथिपूजनम् ॥

मनु०

अर्थात् जो भोजन अतिथि को न कराया हो, वह भोजन आप स्वयं भी न करें—पंक्ति भेद न होने दे । इस प्रकार कपट रहित होकर जो अतिथि की सेवा करते हैं, उनको धन, यश, दीर्घायु और स्वर्ग प्राप्त होता है ।

अतिथिसेवा करते समय जात-पात का भी भेद नहीं रखना चाहिए । जो कोई आ जावे, परन्तु पाखंडी साधु न हो, उसका सत्कार करना चाहिए । ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र—चाहे चाडाल भी हो, उस पर दया कर के भोजन इत्यादि देना मनुष्य का परम पवित्र कर्तव्य है । मनुजी कहते हैं —

वैश्य शूद्रावपि प्राप्तौ कुटुम्बेऽतिथिधर्मिणौ ।

भोजनेत्सहभृत्यैस्त्वावानृशस्य प्रयोजनम् ॥

मनु०

अर्थात् अतिथिधर्म से यदि वैश्य-शूद्रादि तक कुटुम्ब में आ जावें तो उनपर भी दया करके, भृत्यों-सहित, भोजन करा देवे ।

अतिथियज्ञ केवल भोजन से ही समाप्त नहीं होती है, किन्तु शास्त्र में उसकी पाँच प्रकार की दक्षिणा भी बतलाई गई है। जब दक्षिणा जब तक न देवे, तब तक अतिथियज्ञ पूर्ण नहीं हो सकता .—

अनुसंधानमपोषणाहारं एवाथ सूर्यम् ।

अनुसन्धेनुपसीत च पक्वः सैवदक्षिणाः ॥

अतिथि जब तक अपने पर में रहे, उसकी भोर प्रेम और आत्मन्तुपूर्ण दृष्टि से देखे, उसकी सेवा में पूरा पूरा मन लगावे सुन्दर और सत्य बाणी बोलकर उसको आमन्त्रित करे, अपने सामगम से उसको पूर्ण सुख देने का प्रयत्न करे, और जब वह खाता होने लगे तब घोंड़ी दूर उसके पीछे पीछे बोलकर उसको प्रसन्न करे ।

प्रायश्चित्त और शुद्धि

मनुष्य की प्रकृति स्वामासिक ही कमजोर होती है ; और वह अनेक सांसारिक मल्लोमलों में भाँकर, जलमदुमकर, भयवा बिना जाने, माता प्रकार के पाप करता है । पाप कर्मों का फल उसको प्रत्यक्ष रूप से भयवा मृत्युसु रूप से भयस्व ही भोगना पड़ता है । जैसा कि कहा है—

अकल्पेन योऽप्यनं कृतं कर्म ह्यवाहमम् ।

परन्तु जो पाप हो चुका है, उस प्रकार के पापों में फिर मनुष्य न कैसे इसस्विय शास्त्रों में अनेक प्रकार के पापों के विषये अनेक प्रकार के प्रायश्चित्त बतलाये गये हैं, और हिन्दूधर्म का विचार है कि उन प्रायश्चित्तों के कर देने से किसी हुए पापों का

मोचन हो जाता है। और सबमुच ही पाप-कर्म का फल जो दुःखभोग है, वह जप, तप, व्रत इत्यादि के द्वारा स्वयं अपने ऊपर ले लेने से—प्रायश्चित्त कर लेने से—पूर्ण हो जाता है, और मनुष्य आगेके लिए शुद्ध हो जाता है। अस्तु। पाप अनेक हैं, परन्तु उनमें सब से बड़े पाप मनुजी ने इस प्रकार बतलाये हैं —

ब्रह्महत्या सुरापान स्तेयं गुर्वगनागमः ।

महान्ति पातकान्याहु संसर्गश्चापि तैः सह ॥

मनु०

ब्राह्मणों और सज्जनों की हत्या, मदिरा पीना, चोरी करना, किसी माननीय गुरु की स्त्री, अथवा अन्य किसी दूसरे की स्त्री से व्यभिचार करना, ये बड़े भारी पाप हैं। और इन बातों से ससर्ग रखना भी एक बड़ा भारी पाप है।

इसका साराश यही है कि, हत्या, मदिरापान, चोरी और व्यभिचार तथा इन पापों के करनेवाले मनुष्यों का ससर्ग, ये पाँच बड़े भारी पातक हैं। इन पातकों तथा इसी प्रकार के अन्य भी सैकड़ों छोटे-मोटे पातकों के अनेक प्रायश्चित्त—व्रत, उपवास, जप-तप इत्यादि के रूप में मनुस्मृति, इत्यादि स्मृतिग्रन्थोंमें लिखे हुए हैं। मनुस्मृति के ग्यरहवें अध्याय में अनेक प्रायश्चित्तों का वर्णन करने के बाद मनुजी ने लिखा है :—

ख्यापने नानुतापेन तपसाऽध्ययनेन च ।

पापकृन्मुच्यते पापात्तथा दानेन चापदि ॥

यथा यथा नरोऽधर्मं स्वयं कृत्वाऽनुभापते ।

तथा तथा त्वचेवाहिस्तेनाऽधर्मेण मुच्यते ॥

यथा यथा मनस्तस्य दुष्कृतं कर्मगर्हति ।

मुच्यते ॥

कृत्वा पापं हि संकल्प्य कश्चात्पापं कुरुष्व ॥
 नैवं कुर्वन् पुनरिति विदुः कृत्वा कृते तु वा ॥
 नृवं संकल्प्य नश्यता प्रेतकर्मण्यभेदकम् ॥
 मनोवाहं मूर्तिभिर्मित्त्वं ह्युर्म कर्म समाधीत् ॥
 भयानकपदि वा ज्ञानात्कृत्वा कर्म विपरिहितम् ॥
 कश्चात्प्रसूचितमग्निवज्ज्वलं द्वितीयं न समाधीत् ॥

श्लो ४० ११

इसका अर्थ यह है कि जिस किसी से कोई पाप हो जावे वह अपने उस पाप को दूसरों पर प्रकट करे, पहचानाए करे, छप करे, बेव-शास्त्र का अभ्युपम करे, तो उसका पाप बुरा जायगा। और यदि इन बातों में से कोई भी न कर सके, तो शत्रु करके भी वह पाप से बुरा सकता है। अपने किये हुए अधर्म का ज्यों-ज्यों मनुष्य दूसरों से कहता है, त्यों त्यों वह उस अधर्म से दूर होता जाता है। जैसे साँप बेंबुली से। ज्यों ज्यों उसका मूत्र अपने किये हुए दुष्कारों की निम्ना करता है, त्यों त्यों उसका शरीर उस अधर्म से दूर होता है। मनुष्य जो पाप करता है, उस पर ज्यों ज्यों वह अपने मन में अपने ही ऊपर क्रोध करता है अपना मन ही मन अपने उस पाप पर दुःखी होता है, त्यों त्यों वह उस पाप से बचता है, और फिर जब यह प्रतिज्ञा करता है कि, "अब ऐसा पाप न करूँगा" तब वह उस पापनिवृत्ति के कारण, मुक्त हो जाता है। इस प्रकार मनुष्य को चाहिए कि वह बार बार अपने मन में सोचता रहे कि मैं इस जन्म में जो कर्म करूँगा उसका फल मुझे अगले जन्म में भी मिलेगा, और यह सोचकर वह मनु, बाबी और शरीर से सर्वत्र शुभ कर्म करता रहे। पापों से अपने भावको बचाये रखे। सब तो यह है कि मजान अपना ज्ञान से जो कोई विनिवृत्त

कर्म मनुष्य से हो जावे; और वह उस पापकर्म से छूटना चाहे, तो फिर दुबारा उसको न करे।

यही भगवान् मनु के उपर्युक्त श्लोकों का अर्थ है। आज-कल हिन्दू धर्म के लिए कोई राजनियम अथवा समाजनियम न होने के कारण प्रायश्चित्तों का प्राय लोप हो गया है। चोरी, जुआ, मिथ्याभाषण, व्यभिचार, मद्यपान, हत्या, इत्यादि पापों का तो साम्राज्य है। इन पापोंको करते-कराते हुए आज न तो कोई प्रायश्चित्त करता है, और न समाज ही इनके लिए कोई प्रायश्चित्त कराता है। ये मनुजी के गिनाये हुए महापातक हैं; परन्तु महापातकों का आज कोई प्रायश्चित्त नहीं है। इसी से यह धर्मक्षेत्र भारतवर्ष आज अधर्म का क्रीड़ाक्षेत्र बना हुआ है। हां, जो पातक ससर्गजन्य हैं, उनको आजकल बहुत महत्व दिया जा रहा है। जैसे कोई सज्जन यदि विदेशयात्रा करे, तो उसका यह कार्य प्रायश्चित्त के योग्य समझा जाता है। अन्य कुछ पातक हिन्दूसमाज ने इस प्रकार के भी मान रखे हैं, जिनका कोई प्रायश्चित्त ही नहीं है। जैसे, कोई अपने हिन्दूधर्म से वर्मान्तर कर के ईसाई या मुसलमान हो जावे, तो हिन्दूसमाज इसका कोई प्रायश्चित्त ही नहीं मानता। फिर चाहे वह विधर्मियों के छल के कारण, बलात्कार के कारण, अथवा भूखों मरने के कारण ही विधर्म में क्यों न गया हो, हिन्दूसमाज में उसके लिए कोई प्रायश्चित्त नहीं है। इसी कारण से इस पवित्र भारतवर्ष में गोभक्षियों की सख्या करोड़ों तक पहुंच गई है। जो लोग हिन्दूधर्म में रहकर गोरक्षक थे, आज अपने समाज की कमजोरी के कारण, करोड़ों की सख्या में गोभक्षक हो रहे हैं। क्या यह हमारे धर्म की कमजोरी है, अथवा समाज की निर्यलता है? हम तो यही कहेंगे कि यह हमारे हिन्दू

धर्म की कमजोरी नहीं है। हिन्दूधर्म एक बहुत ही व्यापक धर्म है, उसमें प्रायश्चित्त की विधि पापों के क्षान्दन के लिए ही रखी गई है। ऐसा कोई बड़ा से बड़ा पाप भी नहीं है कि जो हिन्दूधर्म की अछिस्तुत्य पवित्रता में भस्म न होजाय, श्रीमद्भागवतपुराण में लिखा है :—

किराच्छूबालप्रपुच्छिन्व पुञ्जसः ।
 वाधीरक्षंदाववनाः कदाचन ।
 केचन च दाया कुराज्जवाज्जवाः ।
 ह्यन्वन्ति कर्म प्रपुच्छिन्वो धमः ॥
 श्रीमद्भागवत

जिस ईश्वरीय धर्म का आश्रय करने से किरात, हुज, बाल, पुच्छिन्व, पुञ्जस, वाधीर, कंका यवन, कट, ह्यादि अनार्य धीरे पापी लोग शुद्ध होते हैं, उस परम पवित्र धर्म को नमस्कार है।

और, सब तो यह है कि इस प्रकार की अनार्य जातियों में भायों से ही उत्पन्न हुई हैं। ये जातियाँ अनार्य किस प्रकार बन गईं इसका कारण मनु महाबाहू इस प्रकार बतलाते हैं :—

कन्दैस्तु मित्राकोपादिनाः इन्द्रियाज्जवाः ।
 ह्यन्वन्त्यं गता कोके माह्ववापुच्छिन्व च ॥
 पौत्रकृशास्त्रीभूविद्याः कम्मबोधा कदाचन ।
 पाप्यान्वहवातधीनाः किराच्छूवणाः कदा ॥

मनु च १

ये जातियाँ पहले क्षत्रिय थीं। जब इनके धर्म-धर्म छोड़ हो गये, मातृवर्ष के पाहट, ह्यर-उपर के देशों में बसे गये। और वहाँ इनको माह्व, भय्याप्य और प्रायश्चित्तादि के लिए विद्वान्, तपस्वी ब्राह्मण न मिलने लगे, तब धीरे धीरे अनार्य

हो गईं। वे जातियां कौन सी हैं? उनमें से मनु जी ने निम्न-लिखित जातियां गिनाई हैं--पौण्ड्रक, औड्र, द्रविड़, काम्बोज, यवन, शक, पारद, अपल्लव, चीन, किरात, दरद और खश।

जब भारतवर्ष को छोड़कर, अथवा भारतवर्ष में ही, इन जातियों ने अपने कर्मधर्म छोड़ दिये, और ब्राह्मणों के दर्शन इनको न होने लगे, ब्राह्मण लोगों ने भी इनको छोड़ दिया, अथवा इनसे घृणा करने लगे, तब ये बेचारे वृषलत्व को प्राप्त हो गये। ब्राह्मणों के अदर्शन के कारण जब इनकी यह दुर्गति हुई है, तब क्या ब्राह्मणों के दर्शन से फिर इनकी सदुत्पत्ति नहीं हो सकती?

म्लेच्छ अथवा मुसलमानों की तरह अन्य जो मलीन जातियां हैं, उनकी उत्पत्ति तो हमारे पुराण-ग्रन्थों में बड़ी विचित्र रीति से बतलाई गई है। मत्स्यपुराण में लिखा है -

ममन्युब्राह्मणास्त्वस्य बलाद्देहमकल्मषा ।

तत्कायात् मध्यमानात्तु निपेतुर्म्लेच्छजातयः ॥

शरीरे मातुरंशेन कृष्णाजनसमप्रभाः ।

मत्स्यपुराण, अ० १०

उस राजा वेन के शरीर का पवित्र ब्राह्मणों ने मन्थन किया, और उस मन्थन के कारण, माता के अश से, उस राजा के शरीर से, ये म्लेच्छ जातियां उत्पन्न हुईं। काले अंजन के समान चमकीला इनका वर्ण था।

श्रीमद्भगवत के चौथे स्कंध में भी म्लेच्छ जातियों की उत्पत्ति इसी प्रकार से बतलाई गई है। इससे मालूम होता है कि आर्य क्षत्रिय राजाओं से ही इनकी उत्पत्ति है। आज तो

इन आत्मियोंके भीर भी उन्नति कर ली है। इनके रंग हंय, बाठ-बाठ में बहुत कुछ सन्धता दिखाई देती है। खास कर भारतीय मुसलमानों का एक-सम्यग् सैकड़ों वर्ष से भारत के भागों से है, भीर इनमें बहुत कुछ भार्यत्व है। भारतीय ईसाई आत्मियों तो ममी बहुत थोड़े दिन से भार्यव्युत हुई हैं। मध्यम इनमें कुछ भीर भी विशेष सन्धता दिखाई देती है। यदि भारतवर्ष के तपस्वी विद्वान् ब्राह्मण लोग इन लोगों को बार बार अपने दर्शन दिया करें, इनसे पूजा न करें, इनमें हिंस्रमित्र कर अपना किस तरह से हो सके, इनको भार्य या हिन्दू-धर्म में फिर से भावें तो यह कुछ अनुचित व होगा। जो अपना मंग है, उसको अपने मङ्ग में लेने से संकोच क्यों करना चाहिए ?

यह हमारा मंग जो हमसे भ्रम हो गया है, हमारी जापरवाही के कारण हुआ है। हमने इनको पूषित समझा, इनको दूर दूर किया—ये हमसे इतनी दूर हो गये कि जिसका कुछ ठिकाना नहीं। अब यदि हम फिर इनको गले से लगावें तो तैयार हों तो ये फिर, हमारा वैम पाकर, हमसे मित्र बनते हैं। भाठ-नी करोड़ ईसाई-मुसलमानों में से अधिकतर लोग येस ही हैं कि जिससे हमन पूजा की, भीर वे हमसे भ्रम हो गये। कुछ तुष्काळ बादिमें मूर्खों मरने के कारण हम से भ्रम हुए। हमने उनके दुकड़े का कबोबस्त नहीं किया। अपनी ही हिंस्रपाराममें मस्त रहे। कुछ कलात्कार भयवा कृपासे में आकर भ्रमालता के कारण, हमसे भ्रम हुए, क्योंकि हमने उनकी रक्षा नहीं की। उनको जापरवाही से छोड़ दिया। यदि अब हम फिर अपनी तपसुं ल जापरवाहियोंको सुभार हें, भीर जो भाठ नी करोड़ हम से भ्रम हो गये हैं, उनसे पूजा छोड़ कर वैम सम्यग् स्थापित करें, तो यह कुसहायी का रूप, जो

अपने गौत का ही काल हो रहा है, फिर से अपने गौतकी रक्षा करने लगेगा ।

इतनी उदारता हमारे धर्म में है ; परन्तु आवश्यकता यह है कि हम उदार बनें । हम ऊपर श्रीमद्भागवत का प्रमाण देकर लिख चुके हैं कि हमारे धर्म में वह शक्ति है, वह उदारता है कि वह बड़े बड़े पतितों को पावन कर सकता है । और आज के पहले हजारों वर्ण का हमारा इतिहास भी साक्षी देता है कि आर्यों के व्यतिरिक्त अन्य आर्येतर म्लेच्छ इत्यादि जातियों को हमने प्रायश्चित से शुद्ध किया है । सब से पहले अत्यन्त प्राचीन तंत्र-ग्रन्थोंका प्रमाण लीजिए । तान्त्रिक लोग बड़े कट्टर हिन्दू थे । “महानिर्वाणतंत्र” में लिखा है —

अहो पुण्यतमा कौला तीर्थरूपा स्वयं प्रिये ।

ये पुनन्त्यात्मसम्बन्धान् म्लेच्छैश्चपचपामरान् ॥

महानिर्वाणतंत्र

अहा ! ये तान्त्रिक लोग कितने पवित्र और पुण्यशील हैं कि, जो म्लेच्छ, श्वपच, इत्यादि परम पापी लोगों को भी अपने में मिलाकर शुद्ध कर लेते हैं । इसके बाद तान्त्रिक सम्प्रदाय की पवित्रता प्रकट करते हुए कहा गया है :—

गंगाया पविताम्भांसि यान्ति गागेयता यथा ।

कुलाचारे विशन्तोऽपि सर्वे गच्छन्ति कौलताम् ॥

महानिर्वाणतंत्र

जिस प्रकार गंगामें मिला हुआ जल, चाहे जैसा अपवित्र हो, वह पवित्र गंगाजल हो जाता है; उसी प्रकार चाहे जैसे अपवित्र धर्मवाला मनुष्य हो, तान्त्रिक लोगों में मिलकर तान्त्रिक ही हो जाता है ।

यह तो तांत्रिक लोगों का उद्धारण हुआ। इसके सिवाय हिन्दूधर्म के प्रबल रक्षक छत्रपति शिवाजी महाराज और गुरु नानक इत्यादि के समय में भी विधर्मियों को प्रायश्चित्त-ज्ञाप शुद्ध करने की प्रथा थी। प्रायश्चित्त भी समय समय के मनु सार अधिष्ठा ने बतलाये हैं। महर्षि याज्ञवल्क्य अपनी स्मृति में कहते हैं —

दाने विवाहे धर्मो व छंदामे त्रेकविण्डये ।

आशुधरे व कथायां वपन्मौषं विधीयते ॥

याज्ञवल्क्यस्मृति, अ १

अर्थात् दान में विवाहमें यज्ञमें संभ्राम में, देशविण्डय में कर दायक आपत्ति के समय सघःशौच का विधान है। जैसे प्राण क्लम का समय है। यह हमारे देशके विण्डय का समय है, और हमारी जाति पर एक प्रकार से पड़ी मारी आपत्ति भारं हुई है। इस समय शुद्धि के छिप में हमको कठोर प्रायश्चित्तों के व्यवहार करने की आवश्यकता नहीं है। इस समय तो हमको यही देखना चाहिए कि हमारे धर्म की कोई भी अपवादा पुरुष, किसी भी कारण विरोध से परधर्म में कटा गया है, तो उसका वहां से छुटकाप करके, उसको 'सघःशौच' का प्रायश्चित्त करा कर तुल्य उसको शुद्ध कर लेना चाहिए। हाँ महर्षि मनु के कथनानुसार उसको अपने कार्य पर पश्चात्ताप अवश्य होना चाहिए कि हमने अपना धर्म छोड़कर बहुत बुरा कार्य किया। और पश्चात्ताप जब हम से ऐसा कमी न कराये। परन्तु यह पश्चात्ताप का प्रायश्चित्तभी एक जोषों के छिप है कि जो जन्म-मृत्युकर स्वधर्म का त्याग करते हैं, परन्तु जो मज्जान से, मन्वसा ब्यक्तकार से स्वधर्म छोड़ने के छिप बाध्य किये जाते हैं, वे तो

अत्यन्त दयाके पात्र हैं। उनकी शुद्धि करनेके लिये प्रायश्चित्त की भी आवश्यकता नहीं है; क्योंकि उनका मन स्वधर्मके विषय में कभी अशुद्ध नहीं हुआ था। बालकों और स्त्रियोंके उदाहरण इसी प्रकार के हैं। स्त्रियों को तो मनु महाराज ने सर्वथा शुद्ध माना है, और नीच कुल से भी शीलवती स्त्री को धर्म पूर्वक ग्रहण करनेकी आज्ञा दी है —

श्रद्धधानः शुभा विद्यामाददीतावरादपि ।
 अन्त्यादपि परं धर्मं स्त्रीरत्नं दुष्कुलादपि ॥
 विपादप्यमृतं ग्राह्यं बालादपि सभापितम् ।
 अग्निग्रादपि सद्वृत्तमेयध्यादपि काचनम् ॥
 स्त्रियोरत्नान्ययो विद्याधर्मः शौचं सभापितम् ।
 विविघ्नानि च शिल्पानि समादेयानि सर्वत ॥

मनु० अ० २

अर्थात् उत्तम विद्या नीचके पास हो, तो भी उसे श्रद्धापूर्वक ग्रहण कर लेना चाहिये। उत्तम धर्म शूद्र से भी श्रद्धापूर्वक ग्रहण करना चाहिए; और स्त्रीरत्न चाहे बुरे कुल में भी हो, तो भी उसे श्रद्धापूर्वक ग्रहण करना चाहिए। विप से भी अमृत ले लेना चाहिए। बालक के भी शिक्षादायक वचन ग्राह्य हैं। अच्छा चालचलन यदि शत्रु में भी हो तो उसे लेना चाहिए। सुवर्ण नापाक जगह से भी उठा लेना चाहिए। इस प्रकार स्त्री, रत्न, विद्या, धर्म, पवित्रता, अच्छे वचन, और अनेक प्रकार की शिल्पविद्या सब जगह से, जहा मिले, वहीं से ले लेना चाहिए।

मनु महाराज के इन वचनों से स्पष्ट है कि स्त्री, चाहे जितने नीच कुल में हो; परन्तु यदि वह स्वैरिणी व्यभिचारिणी नहीं है, तो उसे अवश्य ग्रहण कर लेना चाहिए। परन्तु उसे धर्मपूर्वक ग्रहण करना चाहिए। अधर्म से नहीं। धर्मपूर्वक

विधर्मों लक्ष्मी को भी ग्रहण करके हम अपने पवित्र धारण से संसर्ग से उसे धर्मरिमा बना सकते हैं। तप और सदाचार में बहुत बढ़ी शक्ति है। महर्षि पराशरने राजा जम्बू से कहा है—

राजन्वैवहस्तु शास्त्रमनुष्येषु जम्बवा ।
महात्मनां स्फुटपत्रिः तपसा धारितात्मनाम् ॥

महाशारङ्ग, धाम्निदर्शन ४ १११

अर्थात् हे राजन्, नीच कुल में जन्म पाने पर भी तप से उच्चत्व प्राप्त हो सकता है। कई लोग कहेंगे कि यह सतयुग की बात है। भाइयों ऐसा नहीं हो सकता। परन्तु ऐसी बात नहीं है, तप और धर्म का प्रभाव सदा-सर्वदा वैसा ही रहता है। महर्षि मनु कहते हैं —

ज्योतीष प्रमाद्यैस्तु ते पञ्चमिह पुत्रा पुत्रो ।
दत्तं वाचनं च मनुष्येभिरहम्भसः ॥
मनु ४ १ । १२

अर्थात् तपप्रभाव से और धर्मप्रभाव से मत्प्रेक युग में मनुष्य जन्म की उच्चता और नीचता को प्राप्त होते हैं।

सापेक्ष यह है कि जिस प्रकार से तपकी विद्या प्रकाश अपने संसर्ग से नीच कुल की विधर्मों को भी पवित्र कर सकता है, वही प्रकार वह अपने धर्म से उसके द्वारा उच्च कुल की सन्तति भी उत्पन्न कर सकता है। इस विषय में मनुजी ने एक जगह और भी कहा है :—

आद्योवाचोम्भाद्योवाचोवाचोवाचो ॥

मनु ४ १ ।

अर्थात् मनार्थों की मैं मार्ग पुरुष से उत्पन्न हुआ पुत्र गुणों से मार्ग ही होगा। धर्मप्रभाव सब ही रहता है। ऐसी दशा में

आर्य (हिन्दू) लोगों को अनार्य (आर्यतर) जाति की स्त्रियों को ग्रहण करने में अब कोई लज्जा या संकोच न करना चाहिए। हम लोगों को मनु इत्यादि अपने शास्त्रकारों की आज्ञा के अनुकूल आचरण करना चाहिए।

इसी प्रकार विधर्मों वालकों को भी हम ग्रहण कर के अपने धर्म में मिला सकते हैं। जो दूसरे धर्म के वालक हैं, अथवा अपने धर्म से अभी हाल में पतित होकर व्रात्य हो गये हैं, उनको हम फिर व्यवहार्य बना सकते हैं। पारस्कर गृह्यसूत्र का वचन है —

तेषा संस्कारेऽसवो व्रात्यस्तोमेनेष्ट्वा काममधीयीरन् । व्यवहार्यो भवतीव घवनात् ॥ ४३ ॥

पारस्कर गृह्यसूत्रम् २ । ५

जो वालक पतित हो गये हैं, उनको व्रात्यस्तोमयज्ञ करा कर हम अध्ययन इत्यादि में लगाकर व्यवहार्य बना सकते हैं। परन्तु इस समय तो देश के ऊपर महा भयकर अनिष्ट आया हुआ है, इसलिए महर्षि याज्ञवल्क्य की व्यवस्था के अनुसार सिर्फ “सद्य शौच” ही एक बड़ा भारी साधन है। यज्ञ इत्यादि की ऋभट इस समय नहीं हो सकती। याज्ञवल्क्यस्मृति में शुद्धि के साधन और भी एक जगह लिखे हुए हैं। इनके अनुसार आचरण करना चाहिए —

कालोऽग्निः कर्म मृद् वायुः मनो ज्ञान तपो जलम् ।

पश्चात्तापो निराहार सर्वेऽग्नी शुद्धिहेतवः ॥

याज्ञवल्क्यस्मृति, अ० ३

अर्थात् काल, अग्नि, कर्म, मिट्टी, वायु, मन, ज्ञान, तप, जल, पश्चात्ताप, निराहार, ये सब शुद्धि के साधन हैं।

मन्त्रज्ञ यह है कि जिसकी शुद्धि करनी हो, उसको उसकी शक्ति के अनुसार निराहार प्रथम करना सकते हैं, पश्चात्तप उसको स्वयं ही होगा, और यदि उसको पूर्ण पश्चात्तप है, तो फिर मनुष्यीके अनुसार उसको दूसरे साधन की आवश्यकता ही नहीं। जल, गङ्गाजल इत्यादि छिड़ककर भयना नहलाकर शुद्ध कर सकते हैं। शक्ति-अनुसार तप का विधान कर सकते हैं। विद्याभ्यास इत्यादि करके उसको ज्ञान दे सकते हैं। मन्त्र पश्चात्तप से स्वयं ही शुद्ध होगा। शुद्ध पवित्र तर्पणस्थान की वायु, मिट्टी वाष्पका इत्यादि का देश-काल के अनुसार उपयोग कर सकते हैं। मन्त्राभ्यास के द्वारा उसके कर्म या आचरण बदल सकते हैं। मन्त्र-पूजा इत्यादि उससे करा सकते हैं। काल, समयानुसार यह स्वयं शुद्ध हो सकता है, चाहे और कोई साधन न किये जायें इत्यादि। सारांश यही है कि शुद्धि के लिए देशकालानुसार प्रायश्चित्त कराना श्रद्धियों को सम्मत है।

यह प्रायश्चित्त और शुद्धि का वर्णन किया गया। उसको विशेषपूर्वक इस पर आचरण करना चाहिए।

अहिंसा

मन, वचन, कर्म से किसी निरपराध प्राणी को कष्ट देना हिंसा कहलाता है, और इसके विपरीत कर्म को अहिंसा समझना चाहिए —

अद्रोहः सर्वभूतेषु कर्मणा मनसा गिरा ।

अनुग्रहश्च दानं च सर्वं धर्मं सनातनम् ॥

महानारत, धनपर्व

मन, वचन, कर्म से सब प्राणियों के साथ अद्रोह अर्थात् मैत्री रखना, उन पर दया करना और उनको सब प्रकार सुख देना—यही सज्जनों का सनातन धर्म है। इसी को “पद्म धर्म अहिंसा” कहना चाहिए ।

जो मनुष्य दूसरों को वाणी से कष्ट पहुँचाते हैं, अर्थात् किसी की निन्दा, चुगली करते हैं, अथवा कठोर वचन बोलते हैं, वे मानो वाणी से हिंसा का आचरण करते हैं। जो मन से किसी का अकल्याण चाहते हैं, मत्सर करते हैं, वे मन से हिंसा करते हैं, और जो हाथ से किसी को मारते हैं अथवा बध करते हैं वे कर्म से हिंसा करते हैं। यह तीनों प्रकार की हिंसा त्याज्य है। हिंसा से मनुष्य में क्रूरता आती है, उसके मन के सदुभाव नष्ट होते हैं, पाप बढ़ता है, और उसको इस लोक तथा परलोक में शान्ति नहीं मिलती। इसके विरुद्ध जो सब पर दया रखता है, किसी को कष्ट नहीं देता, वह स्वयं भी सुखी रहता है —

अष्टम्य सर्वभूतानामायुष्मान्नीदत्र सुधी ।

भवन्यमक्षयन्मासं दयावान् प्राणिनामिहि ॥

महामारत, अनुशासनपर्व

जो सब प्राणियों पर दया करता है, धीर मांसमसृज कमी नहीं करता वह किसी प्राणी से स्वयं भी नहीं डरता हीर्षासु होता है, भारोम्य होता है, धीर सुखी होता है। मयवान् मनु तो यहां तक कहते हैं कि—

यो कल्पयन्नस्येकाप्राणिनां न किरीरित ।

स सर्वस्वदित्योपेक्ष्य सकलस्वल्पमस्तुते ॥

बहुप्राणति कल्पते इति कथाति वज्र न ।

उपप्राप्तोत्पत्तयेव यो हितस्ति न किंचन ॥

मनु अ १

जो मनुष्य किसी भी प्राणी को कल्पन या बध इत्यादि किसी प्रकार से भी कष्टेश देना नहीं चाहता वह सब का हितचिन्तक मनुष्य मान्य सुख को प्राप्त होता है। ऐसा मनुष्य जो कुछ है जो कुछ करता है, और जिस कार्य में धैर्य से श्रम आता है सब में उसको सहायास ही सफलता होती है। क्योंकि वह किसी प्राणी को भी कमी किसी प्रकार कष्ट देने की इच्छा ही नहीं करता तब फिर उसको कष्ट क्यों होगा ? सब प्राणियों पर वह प्रेम करता है, सब प्राणी उस पर प्रेम करते हैं, और सब प्राणियों का स्वामी परमात्मा भी उस पर प्रसन्न रहता है। ऐसी दशा में उसको सिद्धि धरी-भराई है। वह सब जीव परमात्मा के ही समझता है, अथवा सुख के छिप किसी पर मेघ माव नहीं रहता और न किसी को निर्दयता से मारता है। किसी कवि ने कहा है :—

दया कौन पर कीजिए, का कर निर्दय होव ।

बाई के सब जीव हैं, ओरो कंजर दोष ॥

किस पर दया करें, और किस पर निर्दय हों सब जीव

परमात्मा के हैं—चाहे चीटी हो, और चाहे हाथी। जब ऐसी दशा है, तब अपने उदर की पूर्ति के लिए—मांस-भक्षण के लिए—जीवोंकी हत्या करना कितना बड़ा पाप है। ऐसे मनुष्यों को सुख कभी नहीं मिल सकता.—

योर्ऽहिंसकानि भूतानि हिनस्त्वात्मसुखेच्छया ।

स जीवश्च मृतश्चैव न क्वचित्सुखमेधते ॥

मनु०, अ० ९

जो अहिंसक अर्थात् निरपराध प्राणियों को अपने सुख के लिए कष्ट देता, अथवा उनका नध करता है, वह न इस जन्म में जीवित रहते हुए, और न मरने पर ही, सुख को पा सकता है।

कई मांसभक्षी लोग कहते हैं कि, हम स्वयं नहीं मारते हैं—हम तो सिर्फ दूसरे का मारा हुआ मांस खाते हैं, हमको कोई दोष नहीं लग सकता, परन्तु ऐसे लोगों को विचार करना चाहिए कि यदि वे लोग मांस खाना छोड़ दें, तो जीवों के मारने की कोई आवश्यकता ही न रहे। वास्तव में मारनेवाले से खानेवाले को ही अधिक पाप लगता है। मनु महाराज ने आठ घातक माने हैं —

अनुमन्ता विशसिता निहन्ता क्रयविक्रयी ।

सस्करता चोपहर्त्ता च खादकश्चेति घातक ॥

मनु० अ० ९

१ जिसकी सम्मति से मारते हैं, २ जो अर्गों को काटकर अलग अलग करता है, ३ जो मारता है, ४ जो खरीदता है, ५ जो बेचता है, ६ जो पकाता है, ७ परोसता है, और ८ जो खाता है—ये आठो घातक हैं। इन सब को हत्याका पाप लगता है। सब से अधिक खानेवाले को लगता है, क्योंकि उसी के कारण ये सब क्रियायें

मांसमक्षण में दोष क्यों है ? क्योंकि इससे दया की हानि है। जिस प्राणी का मांस हम खाते हैं, उसको कष्ट देकर हम अपने पेट की पूर्ति कर रहे हैं। जब हमारे पेट की पूर्ति, किसी जीव की हत्या किये बिना ही अन्य प्राणियों से हो सकती है तब किसी को मारने की क्या आवश्यकता, क्यों कि जीव को मारते समय जो कष्ट होता है, वैसा कष्ट और कमी नहीं होता। अपना जीव सब का प्यारा होता है। जैसा अपना जीव समझना चाहिए, वैसा ही दूसरे का भी समझना चाहिए, क्योंकि प्राण-धारण में सुख और प्राणत्याग के समय दुःख सब जीवों को बराबर ही होता है। जो लोग दूसरे का गला काटकर भयवा कटवाकर मांस खाते हैं, वे कमी नहीं पावेंगे कि कोई उनका गला काटकर भयवा कटवाकर खा जाय। जैसा अपना सुखदुःख, वैसा ही अन्य प्राणियों का भी सुख-दुःख समझना चाहिए —

प्राण्य क्वास्मिन्बोम्भीष्टा भूतावामपि वै ज्ञवा ।

आत्मौष्मिन्नेव मन्तव्यं बुद्धियद्बुद्धिं कृत्वात्मभिः ॥

महाभारत, भृशुप्राणवर्ण

जिस प्रकार हमको अपने प्राण प्यारे हैं, वैसी ही अन्य प्राणियों को भी अपने प्राण प्यारे हैं। इसलिये बुद्धिमान और विचारशील मनुष्यों को अपने ही समान सब का समझना चाहिये —

एषंभिः भूतानि ह्येवैवमन्त एषंभिः बुभुक्षन्व बृधं मन्ते ।

तेषां ष्मोत्पादवशात्केतुं कुर्वन्व कर्तव्यं हि महत्तम ॥

सभी प्राणी सुख से सुखी और दुःखजन्य भय से कष्टित होते हैं, इस लिये ऐसा कोई कार्य न करना चाहिये कि जिससे

प्राणियों को भयजन्य दुःख हो। साराश यह है कि मास भक्षण से प्राणियों को कष्ट होता है; और कष्ट किसी के लिए भी अभीष्ट नहीं है। इसी लिए मास भक्षण दोष है —

समुत्पत्तिं च मासस्य वधबन्धौ च देहिनाम् ।

प्रसमीक्ष्य निवर्त्तेत सर्वमासस्य भक्षणात् ॥

मनु०, अ० ६

प्राणियों के वध और बन्ध से मास की उत्पत्ति देखकर— अर्थात् उनपर दया करके—सब प्रकार के मासभक्षण से बचना चाहिए। पुनश्च :—

न हि मांसं तृणात्काष्ठादुपलाद्वाऽपि जायते ।

इत्वा जन्तु ततो मांसं वस्माद्दोषस्तु भक्षणे ॥

मास तृण, काठ अथवा पत्थर से उत्पन्न नहीं होता, जीवों के मारने से मिलता है; और इसी लिए इसके भक्षणमें दोष है।

कई लोग यज्ञ के नाम पर अथवा देवी-देवताओंके नाम पर निरपराध पशुओं का बलिदान करके मास का सेवन करते हैं; और इसको धर्म समझते हैं। यह और भी बड़ा भारी पाप है—अर्थात् मासभक्षण के दोष को छिपाने के लिए ये लोग ऊपर से धर्म का आवरण चढ़ाते हैं। ऐसे पापियों के लिए कूर्मपुराण में कहा है —

प्राणिघातात्तु यो धर्ममीदृते मूढमानस ।

स वाञ्छति स्रधावृष्टिं कृष्णाहिमुखकोटरात् ॥

कूर्मपुराण ।

अर्थात् जो मूढ मनुष्य प्राणियों का वध करके धर्म की इच्छा करते हैं, वे मानो काले सर्प के मुखकोटर से अमृत की वर्षा

चाहते हैं। मरे ! जहाँ अहर है, वहाँ से अमृत कैसे मिळ सकता है ? जिसको सब शास्त्रों में अधर्म माना है, वहाँ से धर्म कैसे प्राप्त हो सकता है। चाहे कोई भी धर्म हो, अहिंसा को सभी जगह धर्मशास्त्रकारों ने प्रतिष्ठित किया है —

सर्वधर्मस्वहिंसा हि धर्मात्मा मनुष्यवित् ।

शाम्भारोहिदिप्रमित बहिर्वेषा क्लृप्तरा ॥

महाभारत, मोक्षर्ष ।

धर्मात्मा मनु ने सब धर्म-धर्मों में अहिंसा ही की स्थापना की है, परन्तु जोग भयनी इच्छा से शास्त्रविद्वद्, यह की बेबी (भयवा बेबी-बेबतामों) पर पशुर्मा की हिंसा करते हैं।

इससे सिद्ध है कि निरपराध और अहिंसक प्राणियों की सेवा करना सब प्रकार से निम्नित कर्म है। यह अहिंसा का एक अंग हुआ। इसके अतिरिक्त अहिंसा का एक वृत्त अंग भी है —

केवल हिंसा से निवृत्त रहने में ही अहिंसा पूरी नहीं होती, बल्कि यदि कोई हिंसा करता हो किसी वृत्तरे प्राणी को यदि कोई किसी प्रकार से भी सताता हो, भयवा डसका बच करता हो तो उस पीड़ित प्राण्यो पर दया करना और उसका उस धर्यावार से बचाना—यह अहिंसा का दूसरा अंग है। इसका नाम है—अमय-दान। अमयदान यहो हो सकता है, जो स्वयं निर्मय हो, और दूसरे का दुःख देखकर जिसके दिख में दया का झोठ अमड़ आता हो—यही पूर्ण साधु का अस्वय है। सायबय मुनि ने कहा है —

अन्य विरं श्वीभूतं कृत्वा सर्वजन्तु ।

अन्य ज्ञानेन माधेन किं आभस्मकेष्वैः ॥

शान्तिवर्षीणि

पीडित प्राणियों की पीड़ा देखकर दयासे जिसका दिल द्रवीभूत हो जाता है, उसको ज्ञानसे, मोक्षसे, जटा बढानेसे और भस्म-लेपन इत्यादि से क्या काम ? वह तो स्वयंसिद्धि साधु है। किसी कविने इसी प्रकार के अहिंसाव्रती सत्पुरुष की प्रशंसा करते हुए लिखा है —

प्राणाना परिरक्षणाय सततं सथां क्रिया प्रणिनाम् ।

प्राणेभ्योऽप्यधिकं समस्तजगता नात्स्येद्य किंचित्प्रियम् ।'

पुण्यं तस्य न शक्यते गणयितु यः पूर्णं कारुण्यवान् ।

प्राणानामभयं ददाति सृष्टी येषामहिमावत ॥

ससार में सब प्राणियोंके, रात-दिन, जितने कार्य होते हैं, सब प्राणोंकी रक्षा के लिये ही होते हैं। प्राणोंसे अधिक ससार में और कोई भी चीज प्यारी नहीं है। ऐसी दशा में जिसके हृदय में पूर्ण दया बसती है, और जो सज्जन पुरुष, सदैव अहिंसाव्रत का धारण करते हुए, दूसरे प्राणियोंको, प्राणों का अभयदान दिया करते हैं, वही बड़े भारी पुण्यात्मा हैं—ऐसे सत्पुरुषों के पुण्यकी गणना नहीं की जा सकती।

अहिंसाके ये दोनों अङ्ग तो सब मनुष्योंके लिये सर्वसाधारण हैं, पर क्षत्रियोंके लिये एक प्रकारकी हिंसा भी बतलाई गई है, और उस हिंसा का पातक उनको नहीं लगता है। प्रजा की रक्षा करना क्षत्रियों का धर्म है। इसलिये यदि कोई हिंसक प्राणी, सिंह-व्याघ्रादि, जगल से आकर वस्तीमें उपद्रव करते हों, अथवा जगल में ही प्रजा को सताते हों, तो उनकी हिंसा करना वेदविहित है। अथवा कोई आततायी मनुष्य प्रजा को पीडित करते हों, तो उनका भी तत्काल वध करना चाहिए। आततायी मनुष्य कौन हैं, इस विषयमें मनु महाराज कहते हैं—

अग्निरो गरुडस्यैव अन्तर्यामिण्यभाषणम् ।

अन्तर्यामिण्यस्यैव वन्द्ये आठ्यामिण्यम् ।

मनु० अ० १

जो मनुष्य भाग लयाकर वृक्षरैका घरदार भयबा सेतकडियास
पूज देता है, किसी को जहर दे देता है, हथियार लेकर किसी
को मारने शीकता है, बोरो-बकीती हत्याधिके द्वारा किसी का
धन अपहरण करता है, किसी का छीन लेत लेता है, भयबा
तीर्थक्षेत्रों और मन्दिर यादि धर्मक्षेत्रों को नष्ट-नाश करता है,
वृक्षरै की लीका हरण करता है, ये सब मारी पुत्र माठतापी
कहाते हैं । इनका भयबा इसी प्रकार कि मनुष्य हिंसापूर्ण कर्म
करनाबाडे छोड़ो का उपासक, बिना सोचे विचारे, वप करना
चाहिए—

आठ्यामिण्यमावाप्तं हन्नास्यप्राप्तिवारणम् ।

मनु अ ८ श्लो १५

आठ्यामिण्ये दोतो

मनु० अ ८ श्लो १५१

इसको मारनेमें पाप नहीं है, क्योंकि ये हरण काव में भाकर
प्रजाकी हिंसा करना चाहते हैं । बहुतोंकी हिंसा कबाले के
छिये यदि एक की हिंसा करती पड़े, तो यह वैदिकहित हिंसा
है, और इसी को वैदिकी हिंसा" कहाते हैं—वैदिकी हिंसा
हिंसा न मन्वति—अर्थात् वैदिकहित हिंसा हिंसा नहीं है—
यह अहिंसा है—

वा वैदिकिया हिंसा विन्वत्यन्मन्वराकरे ।

अहिंसामेव वा विवाहं कर्तव्यं हि विवर्धी ॥

मनु० अ ८

अर्थात् इस जगत में जो वेदविहित हिंसा चराचर में नियत है, उसको अहिंसा ही जानना चाहिए, क्योंकि वेद धर्म का ही विधान करता है (अधर्म का नहीं)।

सारांश यह है कि दुष्ट और हिंसक प्राणियों से प्रजा की रक्षा करना क्षत्रियों का अत्यन्त महत्वपूर्ण अहिंसाधर्म है। यदि क्षत्रिय या राजा इस कार्य में प्रमाद करें, तो प्रजा को स्वयं बन्दोबस्त करना चाहिए।

अहिंसा का जो वर्णन ऊपर किया गया है, उसका आचरण करनेवाला मनुष्य ही पूर्ण धर्मात्मा है, क्योंकि अहिंसा परम धर्म है।

गोरक्षा

गोरक्षा हिन्दूधर्म का मुख्य अंग है। गौओं से ही हमारा धर्म और हमारा देश है। यदि हमारे देश और धर्मसे गौ अलग हो जाय, तो कुछ रह नहीं जाता। गौ से ही हमारा जीवन और हमारा प्राण है। ऋषियों ने कहा है —

गावो लक्ष्म्या सदा मूलं गोषु पाप्मा न विद्यते ।

गावो यज्ञस्य नेत्र्यो वै तथा यज्ञस्य ता मुखम् ॥

अर्थात् गौएं ही हमारी सारी सम्पत्ति की जड़ हैं, जहाँ गौ है, वहाँ पाप नहीं है, गौएं ही हमारे सब सत्कर्मों का कारण हैं, और सारे सत्कर्म गौओं में ही जाकर समाप्त हो जाते हैं। गौ यदि न हो तो हमारा कोई कार-व्यापार चल नहीं सकता, और गौओं से उत्पन्न किये हुए पदार्थ यदि हमारे पास न हों

तो हम कोई धर्म-कर्म नहीं कर सकते। हमारे सब सत्कार्य गौ से ही सिद्ध होते हैं। इसलिये गोपक्षा हिन्दूधर्म का प्राण है।

भाज-काल जब हम अपने देश की गौओं की रक्षा देखते हैं, तब हमारा कम्पेजा दृढ़ हो जाता है। दिन पर दिन गोपंश का नाश हो रहा है। पहले भारतवर्ष में गौओं की संख्या १२।१४ करोड़ तक थी, पर इस समय सिर्फ तीन करोड़ होप रह गई हैं। दिन पर दिन गोपंश का संहार हो रहा है। हाय! जिस देश के निवासियों का यह भावर्षा था कि—

बाबो मे भक्तः सन्तु माबो मे सन्तु श्रुता ।

माबो मे इक्ष्मे सन्तु गत्वा मय्ये क्वात्मवद्सु ॥

गौं हमारै भारी हौं गौं हमारै पीछे हौं गौं हमारै इषब में हौं, और गौं हौं ही के बीच में हमारा निवास हो—जिस देशके निवासी राजप्राण तक एक गौ के छिपे अपना प्राण तक देने को तैयार हो जाते थे, और जिस देश में राजा विभीष के समान बलवर्ती राजा एक हिंस फुसे गौ की रक्षा करनेके लिये अपना शरीर देनेको तैयार हो गये थे जिस देश के राजा और अपि स्वयं जंगल जंगल मटककर गौओंका बचाना पसन्द करते थे उसी देश में हमारी गौं देखते कस्तूरकालों में सक्कों गौं रोज मारी जाती हैं, और हम गौपक्षा के छिपे बिसकुल असमर्थ हो रहे हैं! यही हमारे अष्ट-पाठ का मुख्य कारण है। जिस दिन से गोहमारे को हमने अपने देश में लिया, उसी दिन से हमारा नाश प्रारम्भ हो गया। और आज हम स्वयं गौं की समुचित रूप से रक्षा न करते हुए गोहत्या में उदास हो रहे हैं। परमहिता परमार्त्ता ने हम की भाषा दे रखी है—

आरे ते गोब्रसुत पूरुषघ्नम् ।

ऋग्वेद ।

गोहत्यारों और मनुष्य-हत्यारों को सदैव दूर रखो , पर हमने इस पर अमल नहीं किया , और उसी का कडुआ फल आज भोग रहे हैं , परन्तु अब भी अवसर है—अभी तीन करोड़ गौए हमारे देश में शेष हैं—इनकी रक्षा करके यदि हम चाहें, तो अपने देश और धर्म को रसातल जाने से बचा सकते हैं । इस लिए प्रत्येक हिन्दू को गौओं की रक्षा के लिए कटिबद्ध हो जाना चाहिए ।

गोरक्षा हम किन किन साधनों से कर सकते हैं, यहा पर उनका वर्णन करने के लिए स्थान नहीं है । इस विषय पर देश में इस समय काफी चर्चा हो रही है । परन्तु यदि प्रत्येक हिन्दू पहिले की भांति गौ को बेचना पाप समझे, साड़ों के छोड़नेकी प्रणाली फिर से जारी की जाय ; और उन साड़ों की रक्षा का भी पूर्ण प्रवन्ध किया जाय, तथा गोवश के चरने के लिए जमीं-दार और राजा लोग अपनी कुल भूमि को छोड़ दिया करें, एव गोपालक लोग गौओं के रोगों का पूरा पूरा ज्ञान प्राप्त कर के उनकी आरोग्यता बढ़ाते रहें, तो भारत में गौओं के वश की वृद्धि फिर भी हो सकती है । प्राचीन काल में हमारे देश के बड़े बड़े राजकुमार तक गोपालन-विद्या जानते थे । पांडवों ने जब राजा विराट के यहा अज्ञातवास स्वीकार किया था, तब धर्मराज युधिष्ठिर के सब से छोटे भाई राजकुमार सहदेव ने, महाराज विराटके यहा जाकर, तन्तिपाल के नामसे अपने गुणों का परिचय इस प्रकार दिया था —

क्षिप्रं च गाधो बहुला भवन्ति न तासु रोगो भवतीह कश्चन् ।

तैस्त्वैक्ष्मायैर्धिवितं ममैतद् एतानि शिल्पानि मयि स्थितानि ॥

महाभारत, विराटपर्व

गौरी की रक्षा और पाखन के मुँह से से से उपाय मासूम है कि बिनासे बहुत जल्द गौरी की वृद्धि हो जाती है, और इनको किसी प्रकार के रोग नहीं होने पाते। फिर उन्होंने उत्तम छांटों के अपने परीक्षण-बोरेख को फलनाते हुए कहा —

कचमरवापि वाचमि राजन् वृद्धिजननात् ।

येनां मूत्रसुराज्वात् भवि बन्धा प्रसूते ॥

महाभारत, विराटपर्व

इसके सिवाय है राजन्, छांटों की उत्तम उत्तम जातियाँ भी इस ऐसी जात है कि जिनका सिर्फ मूत्र मासूमि से धर कर बड़ी बड़ी कल्याण गौर भी बन्धा है सकती हैं।

कहाँ भारतर्ष के राजकुमारों को भी गोपाखन की इतनी शिक्षा ही जाती थी, और कहाँ आज हम गोपाखन में इतनी प्यासी-मता सिखा रहे हैं! कुछ ठिकाना है!

अब प्रत्येक हिन्दूधर्मानुयायी को गोपाखन और गोपक्ष के लिए जागृत हो जाना चाहिए, और गौ को किसी बुरे मनुष्य के हाथ देना तथा भपात्र को गौ का दान देना पाप समझना चाहिए।

चौथा खण्ड

दिनचर्या

दिनचर्यां निशाचर्यां ऋतुचर्यां यथोदिताम्
आचरन्पुरुषः स्वस्थः सदा तिष्ठति नान्यथा

ब्राह्मसुहृत्

रात को ठीक समय पर सोने और सुबह ठीक समय पर उठने पर ही मनुष्य के जीवन की सारी सफलता है। तसवार में जितने भी महापुरुष, ऋषिमुनि, पंडित, धनवान्, धर्मात्मा और देश-भक्त हुए हैं, अथवा इस समय मौजूद हैं, वे सब प्रात-काल स्वयं उठते रहे हैं, और उठते हैं, तथा ऐसा ही उनका उपदेश भी है। मनुजी इस विषय में लिखते हैं —

ब्राह्मे सुहृते बुध्येत धर्माथो चानुचिन्तयेत् ।

क्रायक्लेशांश्च तन्मूलान् वेदतत्त्वार्थमेव च ॥

मनु०

अर्थात् ब्राह्मसुहृत् में उठकर धर्म और अर्थ का चिन्तन करे। शरीर में यदि कोई कष्ट हो, तो उसके कारण को सोचे, और 'वेदतत्त्वार्थ' अर्थात् परमेश्वर का ध्यान करे।

'ब्राह्मसुहृत्' चार घड़ी तड़के लगता है, जब कि पूर्व की ओर क्षितिज में सूर्य की थोड़ी थोड़ी लाल आभा दिखाई देती है, और दो चार नक्षत्र भी आकाश में दिखाई देते रहते हैं। यही उठने का ठीक समय है। इसको अमृतवेला भी कहते हैं। जो मनुष्य अपने जीवन में इस वेला को साथ लेता है, उसके अमर होने में कोई सन्देह नहीं। अर्थात् वह अपनी पूरी आयु भोग करके अपने सत्कार्यों से ससार में अजरामर हो जाता है।

निद्राका विश्राम लेकर जब प्रातःकाल ब्राह्मसुहृत्में मनुष्य उठता है, तब उसकी सब इन्द्रियां और बुद्धि स्वच्छ और ताजी हो जाती हैं। उस समय वह जो कार्य प्रारम्भ करता है, दिन

भर उसमें सफलता ही होती है, और प्रातःकाल उठनेवाले मनुष्य का समय भी लुप्त मिस्रता है। जो लोग सूर्य उदय होने तक सोते रहते हैं, उनको बुद्धि और इच्छियाँ मन्द पड़ जाती हैं, शरीर में मज्जस्य भर जाता है उनका चेहरा पीला पड़ जाता है। तेज्र जाता रहता है, और चेहरे पर मुर्झा सा छाँ रहती है। दिन भर जा कुछ काम ही करते हैं, उसमें उसको उत्साह नहीं रहता, और न किसी कार्य में सफलता ही होता है। अतएव सुष्य देर से उठनेवाला मनुष्य सर्वत्र वरिष्ठी होता है। किसी कवि ने ठीक ही कहा है—

कुपकिर्षं इत्थमभ्यवहारिणम्
 बहामिदं क्लिष्टमोरोभ्यपिणम् ॥
 पूर्वोत्थे चान्तरमथे च धाक्किणम् ।
 क्षिप्रमपि भीरपि चकामिन् ॥

अर्थात् जिनके शरीर और बहल मीठे रहते हैं, बातों पर मीठ जमा रहता है, बहुत अधिक भावना कर लेते हैं, और सर्वत्र कठोर बचन पोछते रहते हैं तथा जो सूर्य के उदय और अस्त के समय सोते हैं वे महा वरिष्ठी होते हैं—यहाँ तक कि धाँड़े 'अक्रयापि' * अर्थात् बड़े भारी सीमाग्यशास्त्री अस्मी-धर विष्णु ही क्यों न हों परन्तु उनको भी अस्मी छोड़ जाती है। इसलिये सर्वोदय तक सोते रहना बहुत हानिकारक है।

अस्तु। अब यह हैपना धारिण कि प्रातःकाल जब तक उठकर मनुष्य क्या करे। मनुष्य ने अपने सारे श्लोकमें कहा है कि

* यहाँ 'अक्रयापि' शब्द में कवि ने क्लेश रखा है। इसके दो अर्थ हैं। अर्थात् आनुश्रित के अनुसार जिनके हाथ में दण्डक होते हैं, यह शब्द होता है, और दूसरा अर्थ यह धारण करनेवाले विष्णु।

पहले धर्म का चिन्तन करें—अर्थात् अपने मन में परमात्मा का ध्यान कर के यह निश्चय करे कि हमारे हाथ से दिन भर सब कार्य धर्मवर्षूक ही हों, कोई कार्य अधर्म अथवा अन्याय का न हो, जिससे हमको अथवा दूसरे किसी को दुःख हो। अर्थ के चिन्तन से यह मतलब है कि हम दिन भर उद्योग कर के सच्चाई के साथ धन उत्पन्न करें, जिससे स्वयं सुखी रहें, और परोप-कार कर सकें। शरीर के कष्ट और उनके कारणों का चिन्तन इस लिए करें कि जिससे आरोग्य रहें, क्योंकि आरोग्यता ही सब धर्मों का मूल है। कहा भी है कि,

शरीरमाद्य खलुधर्मसाधनम् ।

फिर सब वेदों का सार जो ओंकार परमात्मा है, उसका ध्यान करें, क्योंकि वही सब में रम रहा है, और सारा संसार उसमें रम रहा है। वही हमारे सब कर्मों को देखनेवाला और हमारा साक्षी है।

प्राय प्राचीन लोगों में यह चाल देखी जाती है कि प्रातः-काल उठकर परमात्मा का स्मरण करते हुए पहले अपनी हथेली का दर्शन करके उसको चूमते हैं, और साथ ही यह श्लोक भी पढ़ते हैं —

कराग्रे घसते लक्ष्मी करमध्ये सरस्वती ।

करमूले स्थितो ब्रह्मा प्रमाते करदर्शनम् ॥

इसका भी तात्पर्य वही है, जो मनु महाराज ने बतलाया है। प्रातः काल करदर्शन इसी लिए किया जाता है, जिससे दिन भर हमारे हाथ से शुभ कर्म हों। ऊपर के श्लोक में हथेली में तीन देवताओं का वास बतलाया है। हथेली के आगे लक्ष्मी, जो द्रव्य का देवता है; हथेली के बीच में सरस्वती, जो विद्या का

बेवता है, और इधर के पीछे ब्रह्मा, जो बंधनीय और सत्त्व का हैवता है। सारंग यह है कि सुबह उठकर मनुष्य को परमात्मा का चिन्तन करते हुए अपने दिनभर के उन कार्यों का विचार करना चाहिए कि जो हमारे चारों पुरुषार्थों—अर्थात् धर्म अर्थ काम, मोक्ष से सम्बन्ध रखते हैं। इसका विचार करने के बाद तब चारपाई से नीचे बैठना चाहिए। जब हम चारपाई से नीचे पैर रखते हैं, तब धरती पर हमारा पैर पड़ता है। धरती हम सब की माता है। इसीसे हमको, मा के पैर से नीचे गिरने पर, अपनी गोद में छिपा है। इसी पर हम लेटे जाते और बड़े हुए हैं। यही हमको माता प्रकार के फल-फल्य हैकर हमारा पासन करती है, और अन्त में—

४ मी—इस पानी अपनी गोद में विभ्राम देती है। इस हमारे बड़े-बड़े लोग सुकृद् जब चारपाई से पैर नीचे रखते हैं, तब यह कड़क कहकर धरती माता को भी बमस्वार करते हैं, और पैर रखने के छिय क्षमा मांगते हैं —

समुद्रकले देवि पर्वतकर्मदाये ।

विष्णुकी बमस्तुम्बं वाक्स्वर्गं क्षमस्व मे ॥

अर्थात् हे देवी समुद्र ही तुम्हारी साक्षी है, और पर्वत तुम्हारे स्तनमंडल है, तुम विष्णु अर्थात् सब के पासन करनेवाले भगवान् की पत्नी हो अतएव हमारी माता हो जब हम यह जो तुम्हारे शरीर में अपना पैर छुभाते हैं—क्या करें सुमाना साक्षारी है—इसके छिय माता हमको क्षमा करो। जैसा तुम्हें माय है। धरती माता को भक्ति मनुष्य के जीवन का एक मुख्य कर्तव्य है —

अपनी अमशुक्तिच स्वर्गद्वि गरीकती ।

इतना करने के बाद फिर हमको अपने नित्यकार्यों में लग जाना चाहिए। शौच, दन्त-धावन, स्नान-संध्या, खुली हवा में व्यायाम, इत्यादि सुबह के मुख्य कर्म हैं। ये सब कार्य स्वच्छ और खुली हवा में प्रातःकाल करने चाहिए। प्रातःकाल जो वायु चलती है, वह शरीर और मनको प्रसन्न करके प्रफुल्लित कर देती है, और आरोग्यता को बढ़ाती है। यह वायु सूर्योदय के पहले दो घंटे चलती है, सूर्योदय के बाद हवा दूसरी हो जाती है। इसी वायु के गुण का वर्णन करते हुए किसी हिन्दी कवि ने कहा है.—

प्रातःसमय की वायु को सेवन करत सजान ।

तातें मुख- छवि बढ़ति है, बुद्धि होति बलवान ॥

अतएव चालक से लेकर बूढ़े तक, स्त्री-पुरुष सब को, इस अमृतवेला का उचित रीति से साधन करना चाहिए ।

स्नान

स्नान का सर्वात्तम समय प्रातःकाल ही है। शोध मुक्त मार्जम के बाद स्नान करना चाहिए। कुछ लोगों का मत है कि व्यायाम के पहले स्नान करना चाहिए, जिससे शरीर के छिद्र खुल जायें और व्यायाम करते समय पसीने के द्वारा तथा वायुसंचार के द्वारा शरीर का मल मूत्री मीति निकल सके। और कई लोगों का यह भी मत है कि व्यायाम के बाद स्नान करना चाहिए, जिससे शरीर से निकला हुआ मैल साफ हो ५। दोनों मत ठीक हैं। जिसका जैसी सुविधा हो वैसा करना चाहिए, परन्तु यह ध्यान में रहे कि व्यायाम के बाद तुरन्त ही स्नान करना ठीक नहीं। कुछ देर विश्राम लेकर स्नान करना चाहिए।

स्नान सर्वत्र शीतल जल से ही करना चाहिए। इससे शरीर स्वस्थ और चित्त प्रसन्न होता है। परन्तु शीत प्रदेशों में यदि कुछ उष्ण जल से स्नान किया जाय तो भी कोई हानि नहीं। मसलत यह कि देशकाल के अनुसार व्यवहार करना उचित है। सर्दी के मौसिम में प्रायः एक ही बार स्नान किया जाता है; परन्तु यदि दो बार का अभ्यास किया जाय, तो भी काम ही होगा। ग्रीष्म और वर्षा में दो बार स्नान करना बहुत साम्प्रदायिक है।

स्नान के पहले तैलान्मर्ग करने से भी स्वास्थ्य की वृद्धि होती है। मातृ प्रकाश में लिखा है कि स्नान के पहले शरीर में तैल इत्यादि मद्यमे से वातादि दोष बुर होते हैं, पक्काबद मिटती है, बल बढ़ता है, नींद अच्छी आती है। शरीर का रंग सुखता है।

आयु बढ़ती है। सिर पर तेल मलने से मस्तक के सब रोग दूर होते हैं। दृष्टि स्वच्छ रहती है। शरीर में पुष्टि आती है। केश घने, काले, लम्बे, मुलायम होते हैं। कान में तेल डालने से सब कर्णरोग दूर होते हैं। पैरों में मलने से पैरों की थकावट दूर होती है, फोडे-फुन्सियाँ नहीं होती, और पैरों के तलुवों में मलने से सब शरीर पर उसका असर होता है। आखों को भी लाभ होता है।

स्नान-समय के अभ्यंग से रोमछिद्रों, नाडियो और नसों के द्वारा शरीर तप्त और बलवान् होता है। जैसे जल से वृक्ष का प्रत्येक अंग बढ़ता है, वैसे अभ्यंग से शरीर की सब धातुएँ बढ़ती हैं। परन्तु जिनको अजीर्ण हो, नवीन ज्वर आया हो, उलटी हुई हो, या जुलाव हुआ हो उनको अभ्यंग मना है।

तैलाभ्यंग के बाद शीतल जल से स्नान करते हुए शरीर के सब अंगप्रत्यंगों को छूव मलना चाहिए; और पीछे से गाढ़े के अँगौछे से शरीर को छूव रगड़ कर पोछना चाहिए। स्नान के लाभ महर्षि वाग्भट्टजी ने इस प्रकार लिखे हैं —

उद्वर्तन कफहरं मेदस प्रविलापनम् ।

स्थिरीकरणसंगाना त्वक्प्रसादकरं परम् ॥

वाग्भट्ट०

शरीर को रगड़कर मैल निकालने से कफ और मेद का नाश होकर शरीर दृढ़ हो जाता है। शरीर की त्वचा मुलायम और सुन्दर हो जाती है।

दीपनं वृष्यमायुष्यं स्नानमूर्जाबलप्रदम् ।

ऋदूसलघ्नमस्वेदतद्रातृद्दाहपाप्मजित् ॥

स्नान से जठराग्नि की वृद्धि, शरीर की पुष्टि, बल की अधिकता,

स्नान

स्नान का सर्वोत्तम समय प्रातःकाळ ही है। शोध मुक्त-मात्रण के बाद स्नान करना चाहिए। कुछ लोगों का मत है कि, व्यायाम के पहले स्नान करना चाहिए, जिससे शरीर के छिद्र खुल जायें और व्यायाम करते समय पसीने के द्वारा तथा वायुसंचार के द्वारा शरीर का मूत्र मछी भांति निकल सके। और कई लोगों का यह भी मत है कि व्यायाम के बाद स्नान करना चाहिए, जिससे शरीर से निकला हुआ मूत्र निकल जाय। दोनों मत ठीक हैं। जिसको जैसी सुविधा हो वैसा करना चाहिए, परन्तु यह ध्यान में रहे कि व्यायाम के बाद तुरन्त ही स्नान करना ठीक नहीं। कुछ देर विश्राम लेकर स्नान करना चाहिए।

स्नान सर्वैय शीतल जल से ही करना चाहिए। इससे शरीर स्वस्थ और चित्त प्रसन्न होता है। परन्तु शीत प्रदेशों में यदि कुछ जल जल से स्नान किया जाय तो भी कोई हानि नहीं। मजबूत यह कि देशजल के अनुसार व्यवहार करना उचित है। सर्दी के मौसिम में प्रायः एक ही बार स्नान किया जाता है; परन्तु यदि दो बार का व्यवसाय किया जाय, तो भी काम ही होगा। ग्रीष्म और वर्षा में दो बार स्नान करना बहुत साम्प्रदायिक है।

स्नान के पहले तैयारबाग करने से भी स्वास्थ्यकी वृद्धि होती है। भाव प्रकटा में लिखा है कि स्नान के पहले शरीर में लेश-श्लेष्मादि मछने से बातादि शोध दूर होते हैं, पकापट मिच्छती है, पद धृता है, नींद अच्छी आती है। शरीर का रंग पुकटा है।

की आग बढ़ती है, चर्बी, अर्थात् शरीर का बलगम नाश हो जाता है, शरीर के सब अंग-प्रत्यंग यथोचितरूप से सुदृढ़ मजबूत हो जाते हैं। जो लोग खड़ी-मलाई-पकवान इत्यादि गरिष्ठ अन्न खाते हैं, और शारीरिक परिश्रम के कार्य करनेका जिनको विलकुल मौका नहीं मिलता, उनके लिए तो व्यायाम अत्यन्त आवश्यक है —

विरुद्धं वा विदग्ध वा भुक् शीघ्र विपच्यते ।

भवति शीघ्र नैतस्य देहे शिथिलतोदय ॥

अष्टागहृदय

अर्थात् ऐसे लोग जो प्रकृति के विरुद्ध गरिष्ठ भोजन करते हैं, उनका भोजन भी व्यायाम से पच जाता है, और शरीर में शीघ्र शिथिलता नहीं आने पाती। जिन लोगों की चरबी वेतरह बढ़ रही हो; और शरीर वेडौल मोटा हो रहा हो, उनके लिए व्यायाम एक बड़ी भारी औषधि है :—

य चैनं सहस्राक्रम्य जरा समधिरोहति ।

न चास्ति सदृशं तेन किञ्चित्स्थौल्यापकर्षम् ॥

भावप्रकाश

व्यायाम करने से जल्दी बुढ़ापा नहीं घेरता, और यदि व्यायाम बराबर करता रहे, तो मनुष्य मृत्युपर्यन्त अजर, अर्थात् युवा रह सकता है। और जो लोग वेडौल मोटे हो जाते हैं, उनका मोटापन भी छूट जाता है। परन्तु सब लोगों के लिए सदैव व्यायाम हितकर भी नहीं है। आजकल आयुर्वेद के नियम जाने बिना सब तरह के लोग जो वेतरह और असमय-कुसमय व्यायाम करने लग जाते हैं, इससे बड़ी हानि होती है —

वायु की शीघ्रता प्राप्त होती है। बाद-बाद यकाबद, मल, पसीना आदि वाह, तथा रूपादि दूर होत है।

इस ऊपर कह चुके हैं कि स्नान सबसे शीघ्रत उस से ही करना चाहिए, परन्तु शीत-यमान रोगों में यदि उष्ण उस से स्नान किया जाय तो मस्तक के ऊपर उष्ण उस मूँडकर भी न डालना चाहिए। इससे नेत्रों को और मस्तिष्क को अत्यन्त हानि पहुँचती है।

मातृकाळ और सार्यकाळ के स्नान के बाद एकान्त और शुद्ध स्थान पर बैठकर पहले सन्ध्यापाठन करना चाहिए। इसके बाद घर के अन्य कार्य तथा व्यवसाय विपणित रूप से चाहिए।



व्यायाम

मानस को पबाने और शरीर को दृष्टपुष्ट रखने के लिए मनुष्य को व्यायाम की बहुत आवश्यकता है। व्यायाम से क्या नाम होता है, इस विषय में आयुर्वेद के आचार्य महर्षि वाग्भट जी कहते हैं —

कारणं कर्मणाम्प्यं शीघ्रोत्थिर्मेककण्ठः ।

विमलकण्ठवाच्यं व्यायामानुप्राकृतं ॥

आर्यभट्ट

व्यायाम से कुर्ती जाती है, कार्य करने की शक्ति बढ़ती है, पर

की आग बढ़ती है, चर्बी, अर्थात् शरीर का वलगम नाश हो जाता है, शरीर के सब अंग-प्रत्यंग यथोचितरूप से सुदृढ मज-बूत हो जाते हैं। जो लोग खडी-मलाई-पकवान इत्यादि गरिष्ठ अन्न खाते हैं, और शारीरिक परिश्रम के कार्य करनेका जिनको बिलकुल मौका नहीं मिलता, उनके लिए तो व्यायाम अत्यन्त आवश्यक है.—

विरुद्धं वा विदग्धं वा भुक्तं शीघ्रं विपच्यते ।

भवति शीघ्रं नैतस्य देहे शिथिलतोदय ॥

अष्टांगहृदय

अर्थात् ऐसे लोग जो प्रकृति के विरुद्ध गरिष्ठ भोजन करते हैं, उनका भोजन भी व्यायाम से पच जाता है; और शरीर में शीघ्र शिथिलता नहीं आने पाती। जिन लोगों की चरबी बेतरह बढ़ रही हो; और शरीर वेडौल मोटा हो रहा हो, उनके लिए व्यायाम एक बड़ी भारी औषधि है.—

य चैनं सहस्राक्रम्य जरा समधिरोहति ।

न चास्ति सदृशं तेन किञ्चित्स्थौल्यापकर्षम् ॥

भावप्रकाश

व्यायाम करने से जल्दी बुढ़ापा नहीं घेरता; और यदि व्यायाम बराबर करता रहे, तो मनुष्य मृत्युपर्यन्त अजर, अर्थात् युवा रह सकता है। और जो लोग वेडौल मोटे हो जाते हैं, उनका मोटा-पन भी छूट जाता है। परन्तु सब लोगों के लिए सदैव व्यायाम हितकर भी नहीं है। आजकल आयुर्वेद के नियम जाने बिना सब तरह के लोग जो बेतरह और असमय-कुसमय व्यायाम करने लग जाते हैं, इससे बड़ी हानि होती है.—

भुज्यान्कृत्वांघोराः कासी र्वासी कुम्हा क्ष्मी ।

रक्षिती क्षी घोषी व र्त्तं कुच्छेन्नाचन ॥

यावत्प्रवास

जो भभी हाल ही में मोझन बघया लीप्रसंय कर चुका है, मर्यात् जो प्रहृकर्य के नियमों का पालन नहीं करता जिसको खांसी या स्वासका रोग है, जो बहुत कमजोर है, जिसका क्षय रक्तपित्त, सुत, शोथ का रोग है, इनको व्यायाम कमी न करना चाहिये । हां यदि हां सके, तो खुली हवा में धीरे-धीरे टहलने का व्यायाम पं छांय भी कर सकते हैं । अत्यन्त कठोर व्यायाम हां समो के छिये हानिकारक है । कठिना व्यायाम शरीर से सहम हो सके उतना ही व्यायाम करना चाहिये । अति सय जगह पत्रित है —

तृष्णाकृत्वाः प्रथमको रक्षितं क्षमा कृत्वा ।

अतिश्वासास्ताः काष्ठो ज्वररक्तक्षिण वाचते ॥

भक्तुंघुत्तव ।

पहुत व्यायाम करन छ शरीर में खुस्की पक्षी है, तुषा का रोग हां जाता है क्षय र्वाच, रक्तपित्त, म्सावि कांसी इत्यादि क रोग हो जात है ।

इस छिये धयिक व्यायाम न करना चाहिये । व्यायाम का इतना हां मठम्य है कि शरीर छ परिधम किया जाय जिससं भाञ्ज वये, धीर दृढ़ता भाये । व्यायाम अनेक प्रकार के है । परन्तु अनुमय छ जाका गया है कि खुली हवा में, बर्ती क बाहर, प्रहृतिर्वांघोर्य सं पूज हरे-भरे जंगल बघया पहाड़ इत्यादि में लूब तर्ती क छांय समज करना सय से भय्या व्यायाम है । समज करने समय हांय चिदकुम गुले छांय देना

चाहिए, और सब शरीर के अंगप्रत्यंगों का संचालन स्वाभाविक रूप से होने देना चाहिए। श्वास को रोकने का प्रयत्न न करना चाहिए और मुखसे श्वास कभी न लेना चाहिए। किसी प्रकार का भी व्यायाम हो, सदैव नासिका से ही श्वास लेना और छोड़ना लाभदायक है।

आजकल हमारे विद्यार्थियों में अंगरेजी व्यायाम की प्रथा चल पडी है। यह बहुत ही हानिकारक है। दण्ड, मुगदर, कुश्ती, दौड, कचड़ी, इत्यादि देशी व्यायाम का समय सुबह और शाम बहुत अच्छा है। असमय में भूखे प्यासे विद्यार्थियोंको व्यायाम कराना मानो उनको जानबूझकर मृत्यु के मुख में देना है।

भोजन

भोजन शरीर के लिये आवश्यक है। परन्तु भोजन ऐसा ही करना चाहिए कि जो शुद्ध हो। क्योंकि जैसा हम भोजन करेंगे, वैसी ही हमारी बुद्धि, मन और शरीर बनेगा। अर्थात् भोजन की शुद्धि पर ही हमारे जीवन की शुद्धि अवलम्बित है। महाभारत उद्योगपर्व में लिखा है —

यच्छक्यं ग्रसितुं ग्राह्यं ग्रस्तंपरिणमेष मत् ।

द्वितं च परिणामे यत्तदाद्य भूतिमिच्छता ॥

महाभारत, उद्योगपर्व

जो पदार्थ भोजन करने योग्य हों, पचने योग्य हों, तथा परिणाम में गुणकारी हों, उन्हीं पदार्थों का भोजन, आरोग्यता की इच्छा रखनेवालों को करना चाहिए। सतोऽगुण, रजोगुण और तमो-

गुण के अनुसार तीन प्रकार के आहार, जो गीता में कथन किये गये हैं, उनमें से सतोगुणी लोगों को जो प्रिय है, उन्हीं आहारों का ग्रहण करके अन्य दो प्रकार के आहारों का त्याग करना चाहिए। सतोगुणी आहार इस प्रकार कथनाया गया है:—

आनुसक्तकवापेस्यसुखीतिविश्वव्याः ।

एताः स्निग्धाः स्थिरा इषा आहारः स्यात्स्निग्धाः ॥

गीता, अ० १७

अर्थात् आयु, जीवन की पवित्रता रख, आरोग्य, सुख, प्रेम को बढ़ानेवाले सरस, चिक्ने पुष्टिकारक, उष्णकारक आहार स्निग्ध लोगों को प्यारे होते हैं। यह यही गुण मिल पदार्थों में हैं उन्हीं को मोझन करना चाहिए। अब सतोगुणी और तमोगुणी आहार, जिनका त्याग करना चाहिए, कथनाते हैं:—

कृष्णकालानुसक्तस्यसुखीतिविश्वव्याः ।

आहारः स्यात्स्निग्धाः इषा आहारः स्यात्स्निग्धाः ॥

गीता, अ० १७

कृष्ण कहे कालीन, बहुत गरम, तीखे, कठे, धीरे कठोरे को बढ़ानेवाले आहार सखसी मनुष्यों को पसन्द आते हैं। ये आहार दुःख, शोक और रोग बढ़ाते हैं। अतएव इनको त्यागना चाहिए। अब तमोगुणी आहार हैकिये:—

वायव्यं करणं पुच्छं चिदं च ॥

स्निग्धमपि चामेवं शोचं चामेवमिदं ॥

गीता, अ० १७

एक पहर का रखा हुआ, नीरस, सड़ा-बुड़ा खून और मनुष्य (मांसादि) तमोगुणी लोगों का मोझन है। इस मोझन को भी अल्पतः निहण्ड और त्याग्य समझना चाहिए।

इसके अतिरिक्त देश-काल का भी विचार कर के जहा जिस समय जैसा आहार मिलता हो उसमें से सात्विक और अपने लिये हितकर आहार ग्रहण करना चाहिये । भोजन बहुत अधिक नहीं करना चाहिये; किन्तु पेट को कुछ खाली रखना चाहिये । भगवान् मनु कहते हैं—

अनारोग्यमनायुष्यमस्वर्ग्यं घाविभोजनम् ।

अपुण्यं लोकविद्विष्टं तस्मात्तत्परिवर्जयेत् ॥

मनु०, अ० २

बहुत भोजन करना आरोग्य, आयु और सुख के लिये हानि-कारक है । इससे पुण्य भी नहीं और लोगों में निन्दा होती है । इसलिये बहुत भोजन नहीं करना चाहिये ।

भोजन के पहले और पीछे हाथ-पैर और मुख भली भाँति धो डालना चाहिये । भोजन ठीक समय पर करना चाहिये । प्रातःकाल १० बजे और सायंकाल को सूर्य डूबने के पहले भोजन कर लेना चाहिये । भोजन सिर्फ साय-प्रातः दो ही बार करना चाहिए । बीच में जल के अतिरिक्त और कुछ नहीं ग्रहण करना चाहिये । महाभारत में कहा है—

सायंप्रातर्मनुष्याणामशनं देवनिर्मितम् ।

नान्तरा भोजनं दृष्टमुपवासी तथा भवेत् ॥

महाभारत, शान्तिपर्व

सुबह शाम दो ही बार भोजन करना मनुष्यों के लिये देव-ताओं ने बनाया है, बीच में भोजन नहीं करना चाहिये । इससे उपवास का फल होता है ।

पीने के लिये शुद्ध जल से उत्तम पदार्थ और कोई भी नहीं है । गौ का शुद्ध ताज़ा दूध भी प्रातःकाल ७ बजे के लगभग

प्रहण किया जा सकता है। परन्तु बहुत छोटों की सम्मति है कि दुग्ध इत्यादि भी भोजन के साथ ही लेना चाहिये, भस्म पीने की आवश्यकता नहीं। बाल्य बीज में तो केवल गुद अथ ही प्रहण करना चाहिये। आयुर्वेद के आचार्य महर्षि सुश्रुतजी गुद अथ का अहण इस प्रकार कथ्यते हैं—

शिशुभक्षणकरणं तुपात्रं हृदि क्षीरम् ।

अथं क्षु च इय च तोषं गुदमुत्पते ॥

उमुत्, सूक्ष्माय च ४९

जिसमें किसी प्रकार की सुर्यध या सुर्यन्ध न हो किसी प्रकार का विशेष स्वाद न जान पड़े, जिससे प्यास मिटे, पबिध हो, शीतल हो, भण्डा हा हण्डा हो मिय हो ऐसा अथ गुणकारी माना गया है। इसी प्रकार का अथ सेवन करना चाहिये। भोजन के संबंध से अथ का सेवन इस प्रकार कथ्याया है—

अथोर्ध्वं भक्ष्यं वारि क्षीर्णं वारि कथ्यते ।

भोजने चाद्यत् वारि भोजनान्ते विप्रकम् ॥

—वाग्भट्टश्रीधर

अजीर्ण में अथ क्षीपधि का काम करता है, और भोजन पच जाने पर अथ अस्वायक होता है। भोजन करते समय पीध में थोड़ा थोड़ा अथ पीते रहने से वह अमृत की तरह कामनायक होता है। परन्तु भोजन के अन्त में बहुत सा अथ पचन पी लेने से वह विष की तरह हानिकारक होता है।

प्रथम तो भोजन अपने घर का ही शुद्धता के साथ बना हुआ प्रहण करना चाहिये। फिर जिनके यहाँ का हमको विश्वास हो ओ पबिध मनुष्य हों जिनका स्वस्वाय पबिध हो मय भोस का सेवन न करती हों धर्मात्मा हों ऐसे छोटों के यहाँ भी भोजन प्रहण करने में कोई हानि नहीं।

इसके सिवाय भक्ष्याभक्ष्य में अफीम, गांजा, भाग, चरस, मद्य, ताड़ी, वीडो-सिगरेट, चाय इत्यादि सब का निषेध है। अर्थात् जितनी नशीली चीजें हैं, उनका कभी सेवन न करना चाहिये। नशीली चीज़ का लक्षण आयुर्वेद में इस प्रकार दिया है—

बुद्धि लुम्पति यद्द्रव्यम मदकारी तदुच्यते ।

शाङ्गधर, अ० ४

अर्थात् जिस चीज के सेवन से बुद्धि का नाश होता हो, वही चीज नशीली है। उसका सेवन न करना चाहिये।

निद्रा

प्रवृत्ति और निवृत्ति से सृष्टि चलती है। प्रवृत्ति के बाद निवृत्ति और निवृत्ति के बाद प्रवृत्ति सृष्टि का आवश्यक नियम है। इसी के अनुसार दिन को कार्य करना और रात को आराम करना सब जीवों के लिये आवश्यक है। मनुष्येतर जीव तो इस विषय में नियम से खूब बंधे हुए हैं। जहां सायकाल हुआ, चिड़ियां वसेरा लेने के लिये अपने अपने घोसलों की ओर दौडती हैं। परन्तु मनुष्य प्राणी का कोई नियम नहीं है, और इसी कारण अल्पायु होकर मर जाता है। कितने ही लोग प्रकृति के विरुद्ध आचरण करते हैं। दिन को सोते तथा रात को जागते हैं, अथवा दिन रात में सोने और काम करने का कोई

विषम न बांधकर बाण्ड या एक बजे रात तक जागते रहते हैं। और सूर्योदय के पाह सात-आठ बजे तक भी सोते रहते हैं। इससे उनकी धारोम्पता कम हो जाती है, और वायु क्षीण होकर वे शीघ्र ही मृत्यु के प्राप्त बन जाते हैं। इसलिये ठीक समय पर सोने और ठीक समय पर जागने का विषम मनुष्य के लिये अत्यन्त आवश्यक है।

महाभारत का वर्णन करते हुए हम कहना चुके हैं कि मनुष्य को रात के अन्त में साधारणतया ४ बजे शय्या भक्ष्य त्याग देनी चाहिये। परन्तु ४ बजे तक के अन्त के लिये रात के पहले पहर अर्थात् ६ बजे के समय मनुष्य को भक्ष्य सो जाना चाहिये। साधारण स्वस्थ मनुष्य के लिये ६ या ७ घंटेकी निद्रा पर्याप्त है। बालकों को आठ या नौ घंटे सोना चाहिये। दिन में अनेक कार्यों में प्रवृत्त रहने के कारण मनुष्य को जो शारीरिक और मानसिक धम पड़ता है, उसको दूर करने के लिये इन्द्रियों और मन को फिर से तरो-ताजा करने के लिये ६ या ७ घंटे की गहरी निद्रा देनी चाहिये। परन्तु हम कहते हैं कि कई लोगों को गहरी निद्रा नहीं जाती। रात को बार बार नींद कुछ जाती है, अथवा बुरे-बुरे स्वप्नों के कारण निद्रावस्था में भी उनके मनको पूरा पूरा विश्राम नहीं मिलता। इसका कारण यही है कि ऐसे मनुष्यों की दिनचर्या ठीक नहीं रहती। जो लोग ज्यादा निद्रा में पड़े रहते हैं अथवा रात को बहुत गरिष्ठ भोजन करने के लिये सो जाते हैं, उनको कभी गहरी नींद नहीं आ सकती। इसलिये निद्राकी पुष्ट भोजन करना हो उनको सूर्य उदय के पहले ही शाम को भोजन कर देना चाहिये। इससे ६ बजे रात तक वह भोजन बहुत कुछ पच जायगा, और उनको गहरी निद्रा आयेगी। इसके विनाय दिन के कार्य निश्चित रूप से करने

चाहिए। शरीर को काफी परिश्रम भी मिलना चाहिए, क्योंकि जो लोग काफी शारीरिक परिश्रम या व्यायाम नहीं करते हैं, उनको भी गहरी नींद नहीं आती। दिन को कार्य करते समय मन को व्यग्र नहीं रखना चाहिए, बल्कि सब कार्य स्थिर चित्त से करना चाहिये। प्रत्येक कार्य में मन की एकाग्रता और निश्चिन्तता रखने से रात को नींद अच्छी आती है। कई लोग दिन को बहुत-सा सो लेते हैं। इस कारण भी रात को उन्हें नींद नहीं आती। दिन को सोना बहुत ही हानिकारक है —

अनायुष्यं दिवास्वप्न तथाभ्युदिवशापिता ।

प्रगे निशामाशु तथा ये वोच्छिष्टाः स्वपन्तिवै ॥

महाभारत, अनुशासनपर्व

दिन में सोने से, और दिन चढ़ आने तक सोते रहने से, आयु का नाश होता है। इसी प्रकार जो लोग रात्रि के अन्तिम भाग में सोते हैं, और अपवित्र रहकर सोते हैं, उनकी भी आयु क्षीण होती है।

दिन को सोने से क्या हानि होती है, इस विषय में आयु-वेद कहता है—

दिवा स्वापं न कुर्वीत यतोऽसौ स्यात्कफावहः ।

ग्रीष्मवर्ष्येषु कालेषु दिवास्वप्नो निषिध्यते ॥

दिन में न सोना चाहिये; क्योंकि इससे कफ की वृद्धि होती है। हा ग्रीष्मकाल में यदि थोड़ा आराम कर ले, तो कोई हानि नहीं; क्योंकि इस ऋतु में एक तो दिन बड़े होते हैं, दोपहर को कड़ी धूप और गर्मी में कार्य भी कम होता है; और कफ का प्रकोप भी स्वाभाविक प्रकृति में कम हो जाता है।

रात को ६ और १० बजे के मन्दर हाथ-पैर, मुँह इत्यादि धोकर शुद्ध-स्वच्छ शैया के ऊपर मग्न को सप्त संकल्प-विचारों से हटा कर सोना चाहिये। बारपाई पर पड़कर मग्न में किसी प्रकार के भी संकल्प-विचार्य न छाना चाहिये। क्योंकि जब तक मग्न शान्त नहीं होता है, गहरी निद्रा नहीं आती है। मग्न को शान्त करने का सबसे बड़ा साधन यही है कि सब विषयों से विस्तृत होकर एक ईश्वर की तरफ समावे, उसी की स्तुति प्रार्थना और उपासना के स्थावक पढ़ते हुए और उसी में मग्न को एकाग्र करके सो जाये। उपनिषद् में कहा है—

एकान्तं चापरिवान्तं सोमै वेनाजुभवति ।

महान्तं विमुमात्मानं मन्वा वीरो न बोधति ॥

उपनिषद्

अर्थात् निद्रा के अन्त में और अज्ञात अवस्था के अन्त में अर्थात् सोने से पहले जो उस महान्त, सर्वव्यापी परमात्मा में अपना विस्तृत समाकर, उसी की स्तुति-उपासना और प्रार्थना करके उसी में मग्न होकर, उसी का दर्शन करते हुए, सो जाता है, उसको कष्ट नहीं होता।

इस प्रकार जो मनुष्य दिन भर स्वाभाव-पूर्वक अपने सब व्यवसाय करके और अन्त में पवित्रता-पूर्वक, पवित्र तथा पर, परमात्मा का ध्यान करते हुए निद्रा की योग्यता में क्या समय स्वप्न विधाम करते हैं, उनको ही निद्रा का परम लाभ प्राप्त होता है। इस प्रकार समय पर सोने से क्या लाभ है, आयुर्वेद कहता है—

विद्या तु सेविता काले वाङ्मत्तान्मस्तद्विद्वान् ।

शुचिर्जनकमेतदाहं बहिरीति करोति हि म

समय पर और यथानियम सोने से मनुष्य के शरीर की सब धातुएँ सम रहती हैं, किसी प्रकारका आलस दिन में नहीं आता शरीर पुष्ट होता है, रग खिलता है, बल और उत्साह बढ़ता है, और जठराग्नि प्रदीप्त होकर भूख बढ़ती है ।

हा, एक बात और है । हमने गम्भीर निद्रा आनेके लिये सूर्य डूबने के पहले भोजन का विधान किया है, परन्तु कई गृहस्थों के लिये ऐसा सम्भव नहीं है । उनके लिये आयुर्वेद के ग्रन्थ भावप्रकाश में इस प्रकार आज्ञा दी है —

रात्रौ च भोजनं कुर्यात् प्रथमाप्रहरान्तरे ।

किञ्चिदून समश्नीयात् दुर्जरं तत्र वर्जयेत् ॥

अर्थात् ऐसे गृहस्थ, जिनको सूर्य डूबने के पहले अपने व्यवसाय के कारण, भोजन करना असम्भव है, सूर्य डूबने के बाद भोजन कर सकते हैं, परन्तु शर्त यह है कि वे रात के पहले पहर के अन्दर ही भोजन कर ले, और कुछ कम भोजन करें, तथा गरिष्ठ भोजन तो बिल्कुल ही न करें । हल्का भोजन जैसे दुग्ध-पान इत्यादि कर सकते हैं । जिनको गरिष्ठ भोजन, अर्थात् अधिक देर में पचनेवाला भोजन करना हो, उनको सूर्य डूबने से पहले ही शाम को भोजन करना अनिवार्य है ।

निद्रा के इन सब नियमों का पालन करने से मनुष्य अवश्य आरोग्य रहेगा । आरोग्यता धर्म का मूल है ।



पांचवां खण्ड अध्यात्म-धर्म

“न हि ज्ञानेन सदृशं पवित्रमिह विद्यते”

—गीता, अ० १८

ईश्वर

ईश्वर का मुख्य लक्षण हिन्दू धर्म में “सच्चिदानन्द” माना गया है—अर्थात् सत्+चित्+आनन्द। सत् का अर्थ है कि, जो सदैव से है, और सदैव रहेगा। चित् का अर्थ है चैतन्य स्वरूप या सम्पूर्ण शक्तियों का प्रेरक, सर्वशक्तिमान्। और आनन्दस्वरूप—अर्थात् सुखदुःख, इच्छाद्वेष, इत्यादि सब द्वन्द्वों से परे हैं। महर्षि पतञ्जलि योगदर्शन में कहते हैं —

क्लेशकर्मविपाकाशयैरपरामृष्ट पुरुषविशेष ईश्वर ।
योगदर्शन ।

अर्थात् जो अविद्यादि क्लेश, कुशल, अकुशल, इष्ट, अनिष्ट और मिश्रफलदायक कर्मों की वासना से रहित है, जीवमात्र से विशेष है, वही ईश्वर है। ईश्वर छोटे से छोटा और बड़ेसे बड़ा है, क्योंकि वह सब में व्यापक होकर भी सबको चला रहा है। जीव सबसे छोटा माना गया है, परन्तु वह ईश्वर जीव के अन्दर भी बसेता है। आकाश और मन इत्यादि द्रव्य सब से छोटे हैं, परन्तु परमात्मा इनके अन्दर भी व्यापक है।

वह देवों का देव है। तैंतीस कोटि देवता हैं। अर्थात् देवताओं की तैंतीस कोटि हैं, उनके अन्दर भी ईश्वर बस रहा है; और ईश्वर के अन्दर वे बस रहे हैं। देवताओं की तैंतीस कोटियों की व्याख्या शतपथ ब्राह्मणमें इस प्रकार की गई है —

आठ वसु—पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, आकाश, चन्द्रमा, सूर्य और नक्षत्र। ये सब सृष्टि के निवासस्थान होने के कारण वसु कहाते हैं।

ग्यारह रुद्र—प्राण, अपान, व्यान, उदान, समान, नाग,

कृर्म इन्द्र, वेपदत्त, धनद्वय और जीवात्मा वे म्याह 'अ' इस लिये कहलाते हैं कि जब वे शरीर छोड़ते हैं, तब उरते हैं।

बाह्य भादित्य—संपत्तरके बाह्य म्यामे ही बाह्य भादित्य कहलाते हैं। कान्त का नियम यही करते हैं, इस लिये इनकी भादित्य संज्ञा है।

एक इन्द्र—इन्द्र विद्युत् का कहते हैं, जिसके कारण सृष्टि का पञ्च पेश्यय स्थापित है।

एक प्रजापति—प्रजापति यज्ञ को कहते हैं क्योंकि इसीके कारण सम्पूर्ण सृष्टि की रक्षा होती है। वायु, बुध्ति, अन्न, भीषधि, इत्यादि की शुद्धि, सत्युत्सों का सत्कार और नावा प्रकार के कलाकौशल और विज्ञान का कामिर्भाव यज्ञ ही से होता है।

यही ठीकस कोटि देवताओं की हैं। इस सबका प्रेरक, सब का अधिष्ठाता, सबका निवासस्थान ईश्वर है। ईश्वरही सम्पूर्ण सृष्टिकर्ता भर्ता संहर्ता है। अर्थात् सम्पूर्ण सृष्टि को बर्ती ने रखा है, यही पावन-योपज और धारण करता है, और बर्ती प्रलयकाल में इसका संहार करता है। वह सृष्टि उत्पन्न होनेके पहले विद्यमान था, और सृष्टि का अन्त हो जाने पर भी विद्यमान रहेगा। वह किसी से पैदा नहीं हुआ है, उसी से सब पैदा हुआ है। वह अनादि-अमन्त है। सब में व्यापक होकर, सबको एकद्वै रूप है, और सब को नियमन करने कहाता है। उसके हाथ, पैर, नाक, कान आँख, इत्यादि कुछ भी नहीं हैं, परन्तु सर्वव्यपिमान होने के कारण सब कुछ करता है, परन्तु फिर भी किसी कर्म में फँसता नहीं। इसी लिये कहा है—

अनेन्द्रियवामाहं, अनेन्द्रियनिर्निमित्तम् ।

यदि कहें कि वह हमको दिखाई क्यों नहीं देता; तो इसका उत्तर यही है कि ये चमड़े की आंखें जो परमात्मा ने हमको दी हैं, सिर्फ दृश्य जगत को देखने के लिये दी हैं। सो पूरा पूरा दृश्य जगत् भी हम इनसे नहीं देख सकते। अपनी आँख में लगा हुआ अजन और सिर का ऊपरी भाग तथा बहुत सा चेहरा भी हम अपना इन आंखों से नहीं देख सकते। सूक्ष्म जन्तु जो हवा में उड़ते रहते हैं, उनको हम नहीं देख सकते। फिर उस सम्पूर्ण ब्रह्माण्डों में व्यापक और जीवात्मा से भी सूक्ष्म परमात्मा को हम इन आंखों से कैसे देख सकते हैं। यहां तक कि मन और आत्मा से भी हम उसको नहीं देख सकते—जब तक कि अपने मन और आत्मा को ज्ञान से शुद्ध न कर लें। जैसे शीशे पर मेल जम जाने से उसके द्वारा हम अपना मुख नहीं देख सकते, उसी प्रकार जब तक मन और जीव पर अज्ञान की कोई जकड़ी हुई है, तब तक हम ईश्वर को नहीं देख सकते। ईश्वर को देखने के लिये अपने सब दुर्गुणों को छोड़ना पड़ेगा। न्याय, सत्य, दया, परोपकार, अहिंसा, इत्यादि दिव्य गुणों को पूर्णरूप से धारण करना पड़ेगा। सब ईश्वरीय सदु-गुणों को जब हम अपनी आत्मा में धारण कर लें, तब वह हमको अपने अन्दर स्वयं ही दिखाई पड़ने लगेगा। क्योंकि उसको देखने के लिये कहीं जाना थोड़ा ही है—वह तो सभी जगह है। हमारी आत्मा में आप प्रकाशित है, पर आत्मा मलीन होने के कारण वह हमको दिखाई नहीं देता। योगी लोग तप और सत्य से आत्मा को परिमार्जित करके सदा उसको देखते हैं। उपनिषद् में कहा है.—

समाधिनिर्धूतमलस्य चेतसो

निवेशितस्यात्मनि यत्सर्वं भवेत् ।

न चक्षते कर्मणि' मित्वा तदा

स्वयन्तर्गतकरणेन गृह्यते ॥

अपरिचय

जो योग्यात्म्यास के द्वारा अपने चित्त के अज्ञानादि सब मैस को
डाखता है, और अपनी आत्मा में ही स्थिर होकर फिर उस
गुरु चित्त को परमात्मा में लगाता है, उसको जो अपूर्ण सुख
होता है, यही पाप्मी-द्वारा वर्णन नहीं किया जा सकता, क्योंकि
उस पद्म मानन्द को तो जीवात्मा अपने मृतकरण में ही
मनुभव कर सकता है ।

योग्यात्म्यास से समाधि में परमात्मा का दर्शन करने के पहले
मनुष्य को योगशास्त्र में बतलाये हुए यम नियम दोनों का साथ
ही साथ अभ्यास कर लेना होता है, क्योंकि जब तक एव यमों
और नियमों का पूर्ण रूप से साधन नहीं कर लिया जाता, तब
तक चित्त की वृत्ति प्रकाश नहीं होती और न योगसिद्धि होती
है । यम पांच हैं —

व्यामहिसाहत्यास्तेष्वस्वर्थापरिग्रहाः कमाः ।

बोयर्कर्म ।

(१) महिसा अर्थात् किसी से बैर न करे, (२) सत्य बोले,
सत्य माने सत्य काम करे, असत्य का व्यवहार कभी न करे ।
(३) परधन और परस्त्री की इच्छा न करे, (४) अस्वर्था—
हितेन्द्रिय हो इन्द्रियसम्पद न हो, (५) अपरिग्रह—सब प्रकार
का अधिमग्न छोड़ देवे । इसी प्रकार पाँचों नियम हैं —

श्रीकण्ठोपशान्तवाग्वापेवप्रविवावाभिः सिद्ध्याः ।

बोयर्कर्म ।

(१) रागद्वेष छोड़कर भीतर से, और जलादि द्वारा बाहर से शुद्ध रहे, (२) धर्मपूर्वक पुण्यार्थ करनेमें जो लाभ-हानि हो, उसमें हर्ष-शोक न मनावे, सदा सन्तुष्ट रहे; (३) सुखदुःख का सहन करते हुए धर्माचरण करते रहे; (४) सदा सत्य शास्त्रोंको पढ़ता-पढ़ाता रहे, और सत्पुरुषों का सग करे, (५) ईश्वर-प्रणिधान—अर्थात् परमात्माके सर्वोत्तम नाम “ओ३म्” का अर्थ विचार करके इसी का जप किया करे, और अपने आपको परमात्माके आज्ञानुसार सब प्रकार से समर्पित कर देवे।

इन यम और नियमों का जब पहले मनुष्य, साथ ही साथ, अभ्यास कर लेता है, तब उसे अष्टांगयोग की सिद्धि क्रमशः होती है। योग के आठ अंग इस प्रकार हैं—(१) यम, (२) नियम, (३) आसन, (४) प्राणायाम, (५) प्रत्याहार, (६) धारणा, (७) ध्यान (८) समाधि। यम और नियमों का ऊपर वर्णन हो चुका है। इनके बाद आसन है। आसन चौरासी प्रकार के हैं, पर मुख्य यही है कि जिस बैठक से मनुष्य स्थिरता के साथ और सुखपूर्वक बैठा रहे, उसी का साधन करे। फिर प्राणायाम अर्थात् श्वास के लेने और छोड़ने की गति के नियमन करने का अभ्यास करे। इसके बाद प्रत्याहार—अर्थात् इन्द्रियों और मन को सब बाहरी विषयों से हटाकर आत्मा में स्थिर करने का अभ्यास करे। फिर धारणा—अर्थात् अपनी आत्मा को भीतर परमात्मामें स्थिर करने का अभ्यास करे। इसके बाद ध्यान—अर्थात् स्थिर हुई आत्माको बराबर परमात्मा में कुछ समय तक रखने का अभ्यास करे। फिर समाधि—अर्थात् आत्मा को परमात्मामें पूर्णतया बराबर लगाने का अभ्यास करे। अर्थात् जितनी देरतक चाहे, ईश्वर में स्थित रहे। उसका दर्शन किया करे। ऐसी दशा में मनुष्यको ईश्वर

के दर्शन का आनन्द हुआ करता है, बाहरी अणु का उसको कुछ मान ही नहीं रहता। बिना ईश्वर में लक्ष्मी रहता है।

इस प्रकार समाधि को सिद्ध करके ही मनुष्य ईश्वर का सच्चा स्वरूप देख सकता है। यों तो जहाँ तक उसका दर्शन किया जाय थोड़ा है। उस मन्त्रका धर्म कौन पा सकता है ?

जीव

ईश्वर के बाद जीवात्मा है। इसका जीव भी कहते हैं, आत्मा भी कहते हैं और जीवात्मा भी कहते हैं। जीव का अर्थ है, चेतनतायुक्त और आत्माका अर्थ है—व्यापक। जीवात्मा चेतन भी है, और व्यापक भी है। ईश्वर में सत् + चित् + आनन्द, तीनों अक्षय हैं। जीव में सिर्फ प्रथम ही अक्षय अर्थात् सत् और चित् है। सत् अर्थात् यह अविनाशी सर्वत्र रहनेवाला धर्म है, और चित् अर्थात् चेतन्ययुक्त है। इसमें तीसरा आनन्द गुण नहीं है। आनन्द सिर्फ परमात्मामें ही है। परमात्मामें उपासना कर के, उसके समीप स्थित होकर, यह उससे आनन्द की प्राप्ति कर सकता है। ईश्वर और जीव का सम्बन्ध उपास्य और उपासक है। दर्शनों में जीवात्मा के अक्षय इस प्रकार बतलाये गये हैं —

इन्द्राई चक्षुःश्रोत्रानुष्णानाम्बारात्मनो किङ्कमिनि ॥ १ ॥

न्यायदर्शन

ब्राह्मणानामिन्द्रोऽम्बरात्मनोऽक्षीन्द्रियान्ब्रह्मरक्षिकारात् एकमुष्णन्कात्तु यो

प्रकृत्वाहचक्षुःश्रोत्रानुष्णानाम्बारात्मनो किङ्कमिनि ॥ २ ॥

वेदान्तिक दर्शन

अर्थात् इच्छा—पदार्थों की प्राप्ति की अभिलाषा । द्वेष—दुःसादि की अनिच्छा या वैर । प्रयत्न—बल या पुरुषार्थ । सुख—आनन्द । दुःख—विलाप या अप्रसन्नता । ज्ञान—विवेक या भले बुरे की पहचान । ये लक्षण जीवात्मा के न्यायशास्त्र में बतलाये गये हैं ।

वैशेषिक दर्शन में जीवात्मा के निम्नलिखित विशेष गुण बतलाये हैं —

प्राण—प्राण को बाहर से भीतर को लेना । अपान—प्राण-वायु को बाहर को निकालना । निमेष—आँख को मीचना । उन्मेष—आँख खोलना । मन—निश्चय, स्मरण और अहंकार करना । गति—चलने की शक्ति । इन्द्रिय—सब विषयों को ग्रहण करने की शक्ति । अन्तरविकार—क्षुधा-तृषा हर्य-शोक, इत्यादि द्वन्द्वों का होना ।

इन्हीं सब लक्षणों से जीव की सत्ता जानी जाती है । जब तक ये गुण शरीर में रहते हैं, तभी तक समझो कि जीवात्मा शरीर के अन्दर है, और जब जीवात्मा शरीर को छोड़कर चला जाता है तब ये गुण नहीं रहते ।

उपर्युक्त इष्ट-अनिष्ट गुणों के कारण ही जीव कर्म करने में प्रवृत्त होता है । कर्म करने में जीव विलकुल स्वतंत्र है । जैसा मन में आवे, बुरा-भला कर्म करे । परन्तु फल भोगने में वह परतन्त्र है । अर्थात् फल का देनेवाला ईश्वर है । जीव को यह अधिकार नहीं है कि वह अपने मन के अनुसार फल भोगे । यदि वह बुरा कर्म करेगा, तो बुरा फल बाध्य होकर उसको भोगना ही पड़ेगा । चाहे वह इस जन्म में भोगे, चाहे पर-जन्म में । ईश्वर जीव के कर्मों का साक्षी मात्र है । वह देखता रहता है कि इसने ऐसा कर्म किया ; और जीव जैसा कर्म

करता है, उसके अनुसार ही वह उसको फल देता है। इससे ईश्वर न्यायकारी है। जीव और ईश्वर का यह सम्बन्ध आगे में इस प्रकार पठनाया गया है :—

हा उच्यते अनुजा सखाया समाहं वृष्टं परिच्यजातं । ज्योत्स्व
 पिच्छं स्वाहृत्प्रमत्तान्तो अधिवाक्यीति ॥

अथ

यही मंत्र उपनिषदों में भी आया है। इसका अर्थ यह है कि ईश्वर और जीव दोनों (पक्षी) 'सुपर्ण' अर्थात् श्रेष्ठता और पाखवादि गुणों में सङ्ग है। 'सयुजा' अर्थात् व्याप्य और व्यापक भाव में संयुक्त है, 'सखाया' परस्पर सखामात्र से समात्तन और अनादि है, और बेसी ही अनादि प्रकृतिरूप वृष्ट पर ये दोनों पक्षी बैठे हुए हैं, परन्तु हममें से एक, अर्थात् जीव, वृष्ट वृष्ट के पापपुण्यरूप फलों को भोगता है, और वृष्टरा (परमात्मा) उनको भोगता नहीं है, किन्तु बायें ओर से भीतर बाहर प्रकाशमान हो रहा है। अर्थात् जीव के कर्म-फल-भोग का साक्षी है। इस मंत्र में ईश्वर, जीव और प्रकृति तीनों की मिश्रता अर्द्धकाररूप से स्पष्ट पठना दी गई है। गीता में भी तीनों का इस प्रकार उल्लेख किया है :—

हाकिमौ ज्ञानौ लोके इतरचाकर एव च ।

इतः उच्यन्ति मृत्युमि कृष्णाम्भार कण्ठं ॥

वचनः कृष्णरत्नः कृष्णरत्नेःसुदाम्भार ।

नो लोकेऽन्यादियं विमर्शन्त इतरा ॥

गीता, अ. १९

सम्पूर्ण सृष्टि में दो शक्तियाँ हैं—एक परिवर्तकशील अर्थात् वायुवात् और वृष्टरा अविनाशी। नान्यथा में तो सब मृत

अर्थात् पंचभूतात्मक जड़ प्रकृति आ जाती है, और अविनाशी जीव कहलाता है। परन्तु इन दोनों से भी श्रेष्ठ एक शक्ति है, जो परमात्मा के नाम से जानी जाती है। वह अविनाशी ईश्वर तीनों लोक में व्याप्त होकर सबका भरण-पोषण और पालन करता है।

जीव को यह ज्ञान होना चाहिए कि परमात्मा सब जगह व्याप्त होते हुए, हमारी आत्मा में भी है, और यही ज्ञान सच्चा ज्ञान है। महर्षि याज्ञवल्क्य अपनी स्त्री मैत्रेयी से कहते हैं —

य आत्मनि तिष्ठन्नात्मनोन्वरोपमात्मा न वेद यस्यात्मा शरीरम् ।
आत्मनोन्वरोपमयति स व आत्मान्तर्याम्यमृतः ॥

बृहदारण्यक

अर्थात् हे मैत्रेयी, जो सर्वव्यापक ईश्वर आत्मा में स्थित है और उससे भिन्न है, (अर्थात् अज्ञान के कारण जिसको जीव भिन्न समझता है)—मूढ़ जीवात्मा नहीं जानता कि वह परमात्मा मुझमें व्यापक है। जिस प्रकार शरीर में जीव व्यापक है, उसी प्रकार वह जीवमें व्यापक है—अर्थात् यह जीव ही एक प्रकार से उसका शरीर है। वह परमात्मा इस जीवात्मा से भिन्न रहकर—अर्थात् इसमें न फँसता हुआ, इसके पापपुण्यों का साक्षी और फलदाता होकर जीवों को नियम में रखता है। हे मैत्रेयी, वही अविनाशी स्वरूप तेरा भी अन्तर्यामी आत्मा है—अर्थात् तेरे भीतर भी वही व्याप्त हो रहा है। उसको तू जान।

यह जीवका स्वरूप, और जीवात्मा का परमात्मा से सम्बन्ध, सक्षेप में बतलाया गया।

सृष्टि

सृष्टि का वर्णन करने के पहले यह देखना चाहिए कि सृष्टि किन कारणों से उत्पन्न हुई है। जब कोई कार्य होता है, तब उसका कोई न कोई कारण अवश्य होता है। बिना कारण के कोई कार्य नहीं होता। कारण उसको कहते हैं, जिससे कोई कार्य उत्पन्न होता है। कारण भी तीन प्रकार का है। एक निमित्त-कारण। वृक्ष उपादान-कारण। तीसरा साधारण निमित्त-कारण। निमित्त-कारण "करनेवाला" कहलाता है, और उपादान-कारण वह कहलाता है कि जिस चीज से वह कार्य बने। और तीसरा साधारण निमित्त वह कहलाता है जिसके द्वारा बने। जैसे घड़ा बनाया गया। जब घड़ा तो कार्य हुआ और जिसने घड़ा बनाया वह कुम्हार निमित्त-कारण हुआ, और जिससे घड़ा बना वह मिट्टी उपादान-कारण हुई। और जिसके द्वारा घड़ा बनाया गया, वह कुम्हार का इण्ड और बक इत्यादि साधारण-कारण हुआ। इसी प्रकार सृष्टिरचना जो एक कार्य है, उसके भी तीन कारण हैं। एक मुख्य निमित्त कारण परमात्मा जो प्रकृति (उपादान-कारण) की सामग्री से सृष्टि को रचता, पालन करता और प्रणय करता है। दूसरा साधारण निमित्त जीव जो परमेश्वर की सृष्टि में से पदार्थों को छेकर मनुष्य प्रकार के कार्यान्तर करता है, और तीसरा उपादान-कारण प्रकृति, जो स्वयं सृष्टि-रचना की सामग्री है। यह अड़ होने के कारण स्वयं न बन सकती है, और न बिगड़ सकती है। यह दूसरे के बाने से बनती और बिगाड़ने से बिगाड़ती है।

इन तीन कारणों में से दो कारणों, अर्थात् ईश्वर और जीव के सक्षित स्वरूप का वर्णन पीछे हो चुका है। अब यहां तीसरे कारण—उपादान-कारण—प्रकृति का स्वरूप बतलाने के बाद सृष्टि के विषय में लिखेंगे। हम कह चुके हैं कि ईश्वर में सत्-चित् + आनन्द, तीन लक्षण हैं, जीव में सिर्फ सत् और चित् दो ही हैं, आनन्द नहीं है। अब प्रकृति को देखिये, तो उसमें एक ही लक्षण, अर्थात् 'सत्' है। सत् का अर्थ बतला चुके हैं कि जो अनादि है, जो किसी से उत्पन्न नहीं हुआ, और जो सदैव बना रहेगा, कभी नष्ट नहीं होगा। यह लक्षण प्रकृति में भी है—यह बन-विगड भले ही जाय, किन्तु इसका अभाव कभी न होगा। रूपान्तर से रहेगी अवश्य। प्रलय हो जाने के बाद भी अपने सूक्ष्म रूप में रहेगी। इस का नाम सत् या अनादि है। भगवान् कृष्ण भी गीता में यही कहते हैं —

प्रकृतिं पुरुषं चैव विद्वज्जनादी उभावपि ।

विकारांश्च गुणांश्चैव विद्धि प्रकृतिसंभवान् ॥

गीता, अ० १३

प्रकृति और पुरुष (जीव) दोनों को अनादि, अर्थात् अविनाशी, जानो। हा, सृष्टि में जो विकार और गुण, अर्थात् तरह तरह के रूपान्तर, दिखाई देते हैं, वे प्रकृति से उत्पन्न होते हैं। जीव इन रूपान्तरों में फँसा रहता है, परन्तु ईश्वर निर्लेप है —

अजामेका लोहितशुक्लकृष्णा बह्वी प्रजा सृजमाना स्वरूपा । अजो
श्चेको लुपमाणोऽनुपेते जहात्येना भुक्त भोगामजोऽन्य ॥

—श्वेताश्वरोपनिषद्

एक अज (अनादि) त्रिगुणात्मक सृष्टि बहुत प्रकार से रूपान्तर

का प्राप्त होती है। एक भ्रम* (जीव) इसका भोग करता हुआ फैलता है, और एक भ्रम्य भ्रम (ईश्वर) न फैलता और न भोग करता है। भस्तु।

ईश्वर और जीव का लक्षण भ्रम्य भ्रम्य कलसा चुके हैं। अब यहां सृष्टि के तीसरे कारण प्रकृति का लक्षण पठनाते हैं —

उत्तरजन्तमसां साम्याकस्या प्रकृतिः ।

संस्कृतम्

सत्त्व भर्षात् शुद्ध, रज भर्षात् मध्य और तम भर्षात् अङ्गता, इन तीनोंकी साम्याकस्या को प्रकृति कहते हैं। भर्षात् ये तीनों वस्तुएँ मिश्रकर जो एक संघात है, उसी का नाम प्रकृति है।

इस प्रकार ईश्वर, जीव और प्रकृति यही तीन इस जगत् के कारण हैं। मुख्य निमित्त-कारण ईश्वर है। उसी के ईक्षण या प्रेरणा से प्रकृति जगत् के भाकार में जाती है। यही निराकार ईश्वर, जो सूक्ष्म से सूक्ष्म जीव और प्रकृति के अन्तर भी व्याप्त रहता है, अपना स्वामाबिक शक्ति, ज्ञान बल और क्रिया से प्रकृति को स्पृहाकार में लाता है। सृष्टि, उत्पत्ति के समय, प्रकृति से स्पृहाकार में किस प्रकार जाती जाती है —

प्रकृतमहात् महतोऽङ्करोऽङ्करात् पञ्चतन्मात्रान्मुमवमिन्निबं पञ्च-
तन्मात्रेभ्यः स्रष्टुमप्रमि पुनर इति पञ्चविधिति पञ्च ।

संस्कृतम्

सृष्टिरचना की प्रथम अवस्था में पञ्च सूक्ष्म प्रकृतिरूप कारण से जो कुछ स्पृहा होता है उसका नाम महत्तत्त्व या बुद्धि

* जीव कर्तारों भाकर जन्म देता और मृत्ता है; पर जन्म नाह नहीं है, पर किसी से पैदा नहीं हुआ है, अनादि है, अक्षय्य है इत्यदि सब सदा है।

है। उससे जो कुछ स्थूल होता है, उसका नाम अहकार है। अहकार से भिन्न भिन्न पाच सूक्ष्मभूत हैं। इन्हीं को पंचतन्मात्रा कहते हैं। यह पाचों भूतों का—अर्थात् पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, आकाश का—शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गंध के रूप में आभास मात्र रहता है। फिर अहकार ही से पाच ज्ञानेन्द्रिया और पाच कर्मेन्द्रिया, तथा ग्यारहवा मन भी होता है। ये सब इन्द्रिया भी आभासमात्र रहती हैं। ऐसी स्थूल नहीं रहतीं, जैसी हम शरीर में देखते हैं। अस्तु। फिर उपर्युक्त पंचतन्मात्राओं अर्थात् सूक्ष्म पंचभूतों से, अनेक स्थूलावस्थाओं को प्राप्त होते हुए ये स्थूल पंचभूत उत्पन्न होते हैं, जिनको हम देखते हैं। स्थूल प्रकृति से लगाकर स्थूल भूतों तक ये सब चीर्चीस तत्व हुए। पञ्चीसत्रा पुरुष, अर्थात् जीव है। इन्हीं सब को मिलाकर ईश्वर ने इस स्थूलसृष्टि को रचा है।

अस्तु। स्थूलपंचमहाभूतों के उत्पन्न होने के बाद नाना प्रकार की ओषधिया, वृक्ष लता-गुल्मादि, फिर उनसे अन्न अन्न से वीर्य और वीर्य से शरीर होता है। पहले जो शरीर निर्माण होते हैं, उनमें ऋषियों की आत्मा प्रविष्ट होती है। ये अमैथुनी सृष्टि से उत्पन्न होते हैं। परमात्मा अपना ज्ञान, 'वेद' इन्हीं के द्वारा सम्पूर्ण मनुष्यजाति के लिए प्रकट करता है। फिर क्रमशः अन्य स्त्री-पुरुषों के उत्पन्न होने पर मैथुनी सृष्टि चलती है। यह भूलोक की उत्पत्ति का वर्णन है। इसी प्रकार परमात्मा अन्य सब लोकों की सृष्टि करता है —

सूर्याचन्द्रमसौ धाता यथापूर्वमकल्पयत् ।

विधं च पृथिवीं चान्तरिक्षमथो स्व ॥

ऋग्वेद

अर्थात् परमात्मा जिस प्रकार से कल्प कल्प में सूर्य, चन्द्र, धौ,

भूमि, अन्तरिक्ष और इनमें रहनेवाले पदार्थों को रचता मापा है, वैसे ही इस सृष्टि-रचना में भी ऐसे हैं। इस प्रकार यह सृष्टि प्रधाह से बनाई है। धनादिकाह से ऐसी ही कर्तृ विपक्षती उत्पन्न होती और प्रलय होती हुई पड़ी जाती है। परमात्मा किस प्रकार से सृष्टि को दृश्य आकार में छाता है, इसका एक बहुत सुन्दर दृष्टान्त मुण्डकोपनिषद् में दिया है —

अर्धोर्ध्वामिः सुन्दरे पृष्ठते च ।

मुण्ड ।

अर्थात् जैसे मकरी अपने अन्दर से ही छल्लु निकालकर आकाश कर्तृ है, और स्वयं उसमें बसेती है, और फिर उसको समेट भी लेती है, उसी प्रकार परमात्मा इस जगत् को प्रकट करने इसमें बसे रहता है, और प्रलय के समय इसको समेट लेता है। इसका तात्पर्य यही है कि ईश्वर के अन्दर प्रकृति और जीव व्याप्यरूप से पहले से ही परतमान रहत है, और जब ईश्वर सृष्टि की रचना करना चाहता है, तब अपने सामर्थ्य से उनको स्थूलरूप में छाता है, और बाप फिर सम्पूर्ण सृष्टि में भीतर-बाहर व्यापक रहता है, सब का मरण-योपण पाछम और नियमन करता है, और फिर कल्प के अन्त में अपने अन्दर विछीन कर लेता है —

सर्वभूतानि क्लृप्तेव प्रकृतिं शान्तिं मामिहम् ।

अन्वयः पुनस्तापि कल्पार्थे किमुवान्महम् ॥

गीता अ १ ।

अर्थात् कल्प के नाश होने पर प्रलय होने पर, सम्पूर्ण सृष्टि परमात्मा में लीन हो जाती है, और कल्प के भावि में अर्थात् जब फिर सृष्टि-रचना होती है, तब फिर ईश्वर सब को उत्पन्न करता है। ऐसा ही कहर कमा रहता है। यह चिह्नचिह्ना कभी

चन्द नहीं होता। अब प्रश्न यह होता है कि जब एक बार सृष्टि सहार हो गया, तब से लेकर और जब तक फिर सृष्टि नहीं रची जाती, तब तक क्या हालत रहती है। मनु भगवान् इसका उत्तर इस प्रकार देते हैं —

आसीदिदं तमोभूतमप्रज्ञातमलक्षणम् ।

अप्रतर्क्यमविज्ञेय प्रसप्तमिष सर्वत ॥

मनु०

सृष्टि के पहले सम्पूर्ण विश्व अन्धकार से आच्छादित था, और प्रलय के बाद भी वैसा ही हो जाता है। उस समय इसकी जो हालत रहती है, वह जानी नहीं जा सकती। उसका कोई लक्षण नहीं दिया जा सकता, और न अनुमान किया जा सकता है। चारों ओर सुम्गुम् प्रसुप्त अवस्था सी रहती है। अन्धकार भी ऐसा नहीं रहता, जैसा हमें इन आँखों से दिखाई देता है। बल्कि वह एक विलक्षण दशा रहती है। एक परमात्मा और उसमें व्याप्य-व्यापक भाव से प्रकृति और जीव रहते हैं। और किसी प्रकार का आभास, जिनकी हम कल्पना कर सकते हैं, उस समय नहीं रहता।

इस पर एक प्रश्न यह भी उठ सकता है कि ईश्वर सृष्टि की रचना क्यों करता है? इसका उत्तर यही है कि यदि ईश्वर सृष्टि की रचना न करे, तो उसका सामर्थ्य सब जीवों पर कैसे प्रकट हो, और जीव जो पाप-पुण्य के बन्धन में सदैव काल से बँधे रहते हैं, उनको कर्मों का भोग करने के लिये भी कोई मौका न मिले, वे सदैव सोते हुए ही पड़े रहें। बहुत से पवित्र आत्मा मुक्ति का साधन करके मोक्ष का आनन्द ले सकते हैं। सो यह आनन्द भी सृष्टि-रचना के बिना उनको नहीं मिल सकता। परमेश्वर में जो ज्ञान, बल और क्रियाशक्ति स्वाभाविक

ही है उसका उपयोग वह सृष्टि को उत्पत्ति, स्थिति, प्रथम व्यवस्था में ही कर सकता है। इतनी ही बात में तो परमात्मा परतन्त्र है। अपने नियमों में वह भी रचना हुआ है। सृष्टिरचना से ही परमात्मा का सामर्थ्य भीरकला-कौशल्य प्रकट होता है। एक शरीर-रचना को ही ले लीजिये। मीठर इक्षियाँ के जोड़, नाड़ियों का कम्पन मांस का डीपन कमड़ो का डकल, प्लीहा मूत्र, फेफड़ा, हृदय की गति, जीवकी संयोजना सिर का सारे शरीर की नाड़ियों से विकसन सम्बन्ध, रोम, नख, इत्यादि का स्थान मांस की मस्जत सुक्ष्म नस का तार के समान प्रथम इन्द्रियाँ के भागों का प्रकाशन, जीवकी जागृति, स्वप्न, सुषुप्ति, तुरीय इत्यादि अवस्थाओं के भोगने का प्रकथ, शरीर की सब घातुओं का विमात्रीकरण इत्यादि ऐसी बातें हैं जिनका सिर्फ तनिक विचार करलै से ही परमात्मा के कलाकौशल्य पर मात्सर्व्यचकित होना पड़ता है।

इसी प्रकार से और सम्पूर्ण सृष्टि को देख लीजिये। नामा प्रकार के रसों और कमकीर्ण घातुओं से परिपूर्ण मूत्र, विविध प्रकार के कटवृक्ष के समान सुक्ष्म बीजाँ से भनाकी रचना, इन्द्रिय, श्वेत, पीत कृष्ण इत्यादि विचित्रविचित्र रंगाँ से युक्त पत्र पुष्प फल, फुल, मूल, इत्यादिकी रचना फिर उनमें सुगन्धि की संयोजना, मिष्ट, हार, फट्ट, कषाय तिक्त, भस्त्र, इत्यादि उँ रसों का निर्माण, वृष्णी, बन्ध, सूर्य, नक्षत्र, इत्यादि धनेक गोळा का निर्माण, उनकी नियमित गतिविधि, एव सब बातोंसे परमेश्वर की अद्भुत सत्ता प्रकट होती है।

नास्तिक लोग कहती हैं कि यह तो सब प्रकृति का गुण है। परन्तु प्रकृति अज्ञ है। उसमें चेतन्य शक्ति नहीं। आप से आप वह यह सब रचना नहीं कर सकती। परमेश्वर के ईश्वर या

उसकी प्रेरक शक्ति से ही यह सब अजीब सृष्टि हुई है, होती रहती है, और ऐसी ही होती जायगी। इस सुन्दर सृष्टि के निर्माण-कौशल से ही इसके निर्माता की शक्ति का पता चलता है, और आस्तिक ईश्वरभक्त इसको देखकर, उसकी अनुपम सत्ता का अनुभव करके, उसकी शक्ति में मग्न हो जाता है। वेद कहते हैं —

इयं विसृष्टिर्यत आ वभूव यदि वा दधे यदि वा न । यो अस्याध्यक्ष
परमेव्योमन्त्सो अद्भ वेद यदि वा न वेद ।

—ऋग्वेद

हे अद्भ, जिससे यह नाना प्रकार की सृष्टि प्रकाशित हुई है; और जो इसका धारण और प्रलय करता है, जो इसका अध्यक्ष है, और जिस व्यापक में यह सब जगत् उत्पत्ति, स्थिति और लय को प्राप्त होता है, वही परमात्मा है, उसको तुम जानो, और दूसरे किसीको (जड़ प्रकृति आदि का) सृष्टिकर्ता मत मानो। उपनिषद् भी यही कहते हैं —

यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते, येन जातानि जीवन्ति । यत्प्रयन्त्य-
भिसंघिनान्ति तद्विजिज्ञासत्स्व तद्ब्रह्म ।

—तैत्तिरीयोपनिषद्

जिस परमात्मा से यह सम्पूर्ण सृष्टि उत्पन्न हुई है, जिसमें यह जीवित रहती है; और जिसमें फिर लय को प्राप्त हो जाती है, वही परब्रह्म परमात्मा है। उसको जानने की इच्छा करो।

पुनर्जन्म

जीव भविनाया और चेतन होने पर भी इच्छा द्वेष, प्रयत्न, सुख दुःख, ज्ञान इत्यादि के वश कर्मों में फँसा रहता है, और कर्म ही उसके पुनर्जन्म के कारण होते हैं। कर्म का समुच्चय गीता में इस प्रकार दिया है —

श्रुतमाबोद्धमकरो विसर्गं कर्म संश्लिष्टं ॥

गीता अ ८

प्राणियों की सत्ता को उत्पन्न करनेवाली विधीय रचना को कर्म कहते हैं। कर्म त्रिगुणरमक प्रकृति से उत्पन्न होता है, और प्रकृति में फँसकर ही जीव कर्म करता हुआ कल्पवर्ष में प्राप्त होता है, और उत्तम मध्यम नीच योनि में जाता है—

पुनरा प्रकृतिव्ये हि मु क्ते प्रकृतिव्याद् गुणाद् ।

कारणं गुणतपोभ्यः सकृदबोधिःकल्पतः ॥

गीता अ १३-१४

प्रकृति में उभरा हुआ जीव प्रकृति से उत्पन्न होनेवाली सत्त्व, रज, तम गुणों का भोग करता है, और इन गुणों का संयोग ही उसके ऊँच-नीच योनि में जन्म होने का कारण है —

सत्त्वराजस्तम इति गुणान् प्रकृतिःकल्पन्वा ।

निवृत्तसि महाबाहो रते रक्षिष्यन्कल्प ॥

गीता अ १४-१

सत्त्व रज तम ये प्रकृति से उत्पन्न होनेवाली तीनों गुण ही इस भविनायी जीवसत्त्वा को देह में बाँधते हैं, अर्थात् बार बार जन्म लेने को बाध्य करते हैं। इससे सिद्ध है कि जो मनुष्य जैसा कर्म करता है, वैसा ही जन्म पाता है :—

देवत्वं सात्विका यान्ति मनुष्यत्वञ्च राजसा ।

तिर्यक्त्वं तामसा नित्यमित्येपा त्रिविधा गति ॥

मनु०, अ० १२-४०

सतोगुणी कर्म करनेवाले देवत्व को पाते हैं, अर्थात् ज्ञान के साथ उत्तम सुख का भोग करते हैं। रजोगुणी कर्म करनेवाले मनुष्यत्वको पाते हैं, अर्थात् रागद्वेष के साथ सुख-दुख का भोग करते हैं तथा जो तमोगुणी कर्म करते हैं, वे मनुष्येतर वृक्ष, पशु, पक्षी, कीट-पतंगादि नीच योनियों में जाते हैं। इसी प्रकार जीव को कर्मानुसार सुख-दुख प्राप्त होता है।

ससार में देखा जाता है कि कोई मनुष्य विद्वान, धनी और सुखी है, और कोई मूर्ख, दरिद्री और दुखी है। यह सब उसके पूर्वजन्म के पाप पुण्य-कर्मानुसार उसको सुख-दुख मिला है, और इस जन्म में जैसा वह कर रहा है, उसके अनुसार उसको अगले जन्म में फल मिलेगा। फिर भी कुछ कर्म ऐसे होते हैं कि जिनका फल जीव को इसी जन्ममें मिल जाता है, और कुछ कर्म ऐसे होते हैं जिनका फल हमको इस जन्म में कुछ भी दिखाई नहीं देता; और कुछ कर्म ऐसे हैं कि जिनको हम प्रत्यक्ष कुछ नहीं कर रहे हैं, और अनायास हमको फल मिल रहा है। इस प्रकार जीव के कर्म के तीन भेद किये गये हैं —

संचित, प्रारब्ध और क्रियमाण। संचित कर्म वे हैं कि जो पूर्व जन्मों के किये हुये हैं; और उनके सस्कार बीजरूप से जीव के साथ रहते हैं। प्रारब्ध वह है कि जिसको जीव इस जन्म में अपने साथ भोगने के लिए ले आता है, और उस प्रारब्ध में से जिस भाग को वह इस जन्म में भोगने लगता है,

उसका प्रियभाव करते हैं। इससे ज्ञान बढ़ता है कि जीव के साथ कर्म का सिद्धसिद्धा लगा ही रहता है, और अत्यन्त ज्ञान से उसके कर्मोंका भाग न मिल जाये, और अत्यन्त यह विद्वान् वासनारहित न हो जाये, तब तक उसका बार बार जन्म लेना पड़ेगा।

यह ध्यान में रहे कि कर्मयानि मनुष्य ही का जन्म है, और मनुष्येतर पशुपक्षी इत्यादि जो जीवात्मा का भाग यानि है वे सब भोगयोनियाँ हैं। उन योनियों में जीव को ज्ञान नहीं रहता। फिर पूर्वकृत पापकर्मोंका वह भाग करता है। फिर जब मनुष्य योनि में जाता है, तब उसके साथ ज्ञान और विवेक होता है जिसके द्वारा वह भले-बुरे कर्मों का ज्ञान करके भले कर्मों के द्वारा उत्तम गति और बुरे कर्मों के द्वारा अधम गति प्राप्त करनी में सफल हो जाता है। जिस मार्ग से जाने की उसकी इच्छा हो यह जाये। इसीलिए कहते हैं कि जीव कर्म करने में सफल और उसका फल भोगने में परलभ है।

मनुष्य का जीव हो, और बाहे पशु-पक्षी का जीव हो— जीव सब का एक सा है। मन्तर केवल इतना है कि एक जीव पाप-कर्मों के कारण महीन और बुरा पुण्यकर्मों के कारण पवित्र होता है। मनुष्य शरीर में जब जीव पाप अधिक करता है, और पुण्य कम करता है, तब वह पशु भावि मीन शरीरों में जाता है, और जब पुण्य अधिक और पाप कम होता है, तब देवयोनि मर्त्यात् विद्वान्, धार्मिक, ब्राह्मी का शरीर मिलता है। और जब पाप-पुण्य बराबर होता है तब साधारण मनुष्य का शरीर मिलता है। इसी प्रकार की-जन्म पाकर यदि जीव, पुण्योचित उत्तम पुण्यकर्म करता है तो देवयोनि से पुण्ययोनि में जाता है।

पापपुण्य-कर्मों में भी उत्तम, मध्यम और निकृष्ट श्रेणिया हैं। कोई पुण्यकर्म उत्तम श्रेणी का होता है, कोई मध्यम या नीच श्रेणी का। इसी प्रकार पाप की भी तीन कोटिया हैं। इन्हीं कोटियों के अनुसार मनुष्यादि में उत्तम-मध्यम-निकृष्ट शरीर मिलता है। कर्मानुसार जन्म के अनेक भेद शास्त्रों में बतलाये गये हैं।

जब जीव का इस स्थूल शरीर से सयोग होता है, तब उसको जन्म कहते हैं, जब इससे जीव का वियोग हो जाता है, तब उसको मृत्यु कहते हैं। इस स्थूल शरीर को छोड़ने के बाद जीव सूक्ष्म शरीर से वायु में रहता है, और अपनी मृत्यु समय की तीव्र वासना के अनुसार जहा चाहता है, वहा जाता-आता रहता है। फिर, कुछ समय बाद, धर्मराज परमात्मा उसके पाप-पुण्य के अनुसार उसको जन्म देता है। जन्म लेनेके लिए वह वायु, अन्न, जल, अथवा शरीर के छिद्र-द्वारा दूसरे शरीर में, ईश्वरकी प्रेरणा से, प्रवृष्ट होता है, और फिर क्रमशः धीरे में जाकर, गर्भ में स्थित हो, शरीर धारण करके बाहर आता है।

जीवात्मा के चार शरीर होते हैं। (१) स्थूल शरीर—जिसको हम देखते हैं, (२) सूक्ष्म शरीर—यह शरीर पाच प्राण, पाच ज्ञानेन्द्रिय, पाच सूक्ष्मभूत और मन तथा बुद्धि, इन सत्रह तत्वों का समुदायरूप होता है। यह शरीर मृत्यु के बाद भी जीव के साथ रहता है, (३) कारण शरीर—इसमें सुषुप्ति, अर्थात् गाढ़ निद्रा होती है। यह शरीर प्रकृतिरूप होनेके कारण सर्वत्र विभु (व्यापक) और सब जीवों के लिए एक माना गया है, (४) तुरीय शरीर—इसी शरीर के द्वारा जीव समाधि से परमात्मा के आनन्दस्वरूप में मग्न होते हैं। इस जन्म में जीवन्मुक्तपुरुष इसी शरीरके द्वारा ब्रह्मानन्द का भोग करते हैं,

धीरे शरीर छोड़ने पर भी परमात्मा में छीन रहते हैं। जब असहकर्मों का क्षय करके धीरे-धीरे शुद्ध दिव्य कर्मों का धारण करके मनुष्य उक्त शरीर की व्यवस्था का विकास अपने अन्दर करता है, धीरे-धीरे जन्म-मरण से मुक्तता प्राप्त करके निर्वाण पदवी प्राप्त करता है। वहाँ पर सांसारिक सुख-दुख नहीं है, एक ऐसे मानस का अनुभव है जो बहकाया नहीं जा सकता।

मोक्ष

मोक्ष या मुक्ति मृत जानी जाती है। जीवात्मा को जन्म-मरण इत्यादि के चक्र में पड़ने से जो तीन प्रकार के दुःख होते हैं, उनसे मुक्तकर सबंध ब्रह्मानन्द का योग करना ही मोक्षप्राप्ति कहलाता है। मगवान् कपिल मुनि अपने सांख्यशास्त्र में कहते हैं —

अथ त्रिविक्रान्धात्मकमिदृशित्वत्तदुपसार्थः ।

सांख्यदर्शन

तीन प्रकार के दुःखों से बिल्कुल ही मुक्त हो जाना, यह जीव का सबसे बड़ा उपसार्थ है। तीन प्रकार के दुःख कौन हैं ?

(१) आध्यात्मिक दुःख—जो शरीर-सम्बन्धी दुःख अपने अन्दर से ही उत्पन्न होते हैं, (२) आधिभौतिक दुःख—जो दूसरे प्राणियों या बाहरके अन्य पदार्थों से जीव को दुःख मिलता है, (३) आधिदैविक—अतिवृष्टि, अतिताप, अतिशीत, इत्यादि दैविक कारणों से, मन और इन्द्रियों की संयमता के

कारण, जीव जो दुःख पाता है, उसको आधिदैविक दुःख कहते हैं। इन सब दुःखों से छूट जाने का नाम मोक्ष है।

मोक्ष किस प्रकार से प्राप्त हो सकता है ? मोक्ष ज्ञान से ही मिल सकता है। सृष्टि से लेकर परमात्मा तक सब का यथार्थ ज्ञान प्राप्त करके धर्माचरण करना और अधर्म को छोड़ देना—यही मुक्ति का उपाय है। परमात्मा, जीवात्मा के अन्दर बैठा हुआ, मनुष्य को सदैव धर्म की ओर प्रवृत्त और अधर्म की ओर से निवृत्त किया करता है; परन्तु अज्ञान जीव उसकी प्रेरणा को नहीं सुनता है; और अधर्म में फँसकर जन्ममृत्यु के दुःखों में फँसता है। देखिये, जब कोई मनुष्य धर्मयुक्त कर्मों को करना चाहता है, तब अन्दर से उसको स्वाभाविक ही आनन्द, उत्साह, उमग, निर्भयता इत्यादि का अनुभव होता है, और जब बुरा कर्म करना चाहता है, तब एक प्रकार का भय, लज्जा, सकोच, इत्यादि मालूम होता है। ये परस्पर-विपरीत भावनाएं जीव के अन्दर ईश्वर ही उठाता है, परन्तु जीव उनकी परचा न कर के, अज्ञान से, और का और करता और दुःख भोगता है। इस लिए क्षण क्षण पर अपनी आत्मा के अन्दर परमात्मा की आज्ञा सुनकर ससार में धर्मकार्य करते रहने से ही मोक्ष प्राप्त हो सकता है।

जितने भी धर्म के कार्य हैं, उनको गीता में दैवी सम्पत्ति कहा गया है —

अभयं सत्त्वसंशुद्धिज्ञानयोगव्यवस्थितिः ।

दानं दमश्च यज्ञश्च स्वाध्यायस्तप आर्जवम् ॥१॥

अहिंसा सत्यमक्रोधस्त्यागः क्षान्तिरपैशुनम् ।

दया भूतेष्वलोलुप्त्वं मार्दवं द्वीरघापलम् ॥२॥

तेन इमा वक्ति शीघ्रमजोहो वदन्तिशिक्षा ।

अचरितं धर्मं वैदीमशिक्षाण्यं धारणं ॥१॥

योग्यं च ११

- १ समय, अर्थात् धर्म के कार्यों में कमी किसी से नहीं उठना ।
- २ सत्त्वसंगुक्ति, अर्थात् जीवन को शुद्ध मार्ग में ही रखना ।
- ३ ज्ञानयोग-व्यवस्थिति, अर्थात् परमात्मा और सृष्टि के ज्ञान का अर्थात् विश्वास सर्वत्र करते रहना । ४ दान धियादान, अन्न दान इत्यादि ऐसी वस्तुएं सर्वत्र हीमहीनों को देते रहना जिससे उनका कल्याण हो । ५ दम मन को इन्द्रियों के अर्थात् न होने देना । ६ धर्म, अपने और संसार के कल्याण के कार्य सर्वत्र करते रहना । ७ इवाध्याय, धर्मग्रन्थों का अध्ययन करने अपनी बुराइयों को सर्वत्र दूर करते रहना । ८ तप, सत्कार्य में शरीर, मन, वाणी का उपयोग करना और उसमें कष्ट सहते हुए न पड़ना । ९ भार्जव सर्वत्र सख्त धर्माव करना—मन वाणी और भावरूप एक सा रखना । १० अहिंसा किसी प्राणी को किसी प्रकार कष्ट न पहुँचाना । ११ सत्य ईश्वर की आज्ञा के अनुसार मन वचन कर्म संयत्न । १२ अक्रोध, अपने या दूसरे पर कमी क्रोध न करना । १३ त्याग दुर्गुणों को छोड़ना और अपने सद्गुणों का संसार के हित में उपयोग करना । १४ शान्ति, दुःख-सुख, हानि-लाभ जीवन-मरण, मित्वा-स्तुति, यश-अपयश, इत्यादि में चित्त की समावृत्ता को स्थिर रखना । १५ अपेक्षुण्य किसी की मित्वा-स्तुति अनुचित रूप से न करना । १६ भूखपा सब प्राणियों पर कृपा करना । १७ अलोभुण्य किसी छात्रवृत्त में न पड़ना । १८ मार्जव सर्वत्र मधुरता कोमलता धारण करना । १९ ही, कर्मा-अर्थात् को कमी न छोड़ना । २० अत्ययता, अत्ययता न करना, विवेक, यत्नीयता

धारण करना । २१ तेज, दुष्टता और दुष्टों का दमन करना ; २२ क्षमा, मौका देखकर दूसरों के छोटे-बड़े अपराधों को सहन करते रहना । २३ धृति, धर्म-कार्यों में विघ्न और कष्ट आवें, तो भी धैर्य न छोड़ते हुए उनको पूर्ण करना । २४ शौच, मन और शरीर इत्यादि पवित्र रखना । २५ अद्रोह, किसी से वैर न वाधना । २६ न-अतिमानिता, अर्थात् बहुत अभिमान न करना, परन्तु आत्माभिमान न छोड़ना । ये २६ गुण ऐसे पुरुष में होते हैं, जो दैवी सम्पत्ति में उत्पन्न हुआ है ।

अव आसुरी सम्पत्ति सुनिये —

दम्भोदपोभिमानश्च क्रोध पारुष्यमेव च ।

अज्ञान चाभिजातस्य पार्थ सम्पदामासुरीम् ॥४॥

गीता, अ० १६

(१) दम्भ, झूठा आडम्बर, कपट-छल धारण करना , (२) दर्प, गर्व मद या व्यर्थ की तेजस्विता दिखलाना, जिसको वन्दर-घुडकी कहते हैं , (३) अभिमान, घमण्ड, अकडवाजी दिखलाना , (४) क्रोध , (५) कठोरता, (६) अज्ञान, यथार्थ ज्ञान न होना , इत्यादि आसुरी सम्पत्ति के लक्षण हैं ।

इन आसुरी सम्पत्ति के लक्षणों को छोड़ने और दैवी सम्पत्ति का अपने जीवन में अभ्यास करने से ही मोक्ष मिल सकता है .—

दैवीसम्पद्धिमोक्षाय निबन्धायासुरी मता ।

गीता, अ० १६

दैवी सम्पत्ति मोक्ष का और आसुरी सम्पत्ति बन्धन का कारण मानी गई है । इसलिए दैवी सम्पत्ति का अभ्यास करके जो योगाभ्यास अथवा ईश्वर की भक्ति के द्वारा परमात्मा का

ज्ञान प्राप्त करके उसमें स्थित होता है, वह मोह को पाता है यदि इसी जन्म में ऐसा अभ्यास कर ले, और इसी शरीर के रहते हुए सांसारिक सुखदुखों से दूरकर परमात्मा में मग्न रहे तो उसको जीवन्मुक्त करते हैं —

अग्नेर्दीर्घं च सोढुं प्राण्शरीरविमोक्षनात् ।
 कामधेनोदुर्लभं केन च युक्तं च ह्यपी मया ॥
 वाञ्छन्त्यन्तरोन्मत्तरामन्त्यन्त्यन्तरोन्मत्तरेण च ।
 च पाम्ये न्यन्तिर्लभं न्यन्त्युतोन्मत्तवृत्ति ॥
 कल्पते न्यन्तिर्लभं न्यन्त्युतोन्मत्तवृत्ति ॥
 किञ्चिद्वा कदात्मावः धर्मभूतहिते रथा ॥

गीता अ ९

जो पुरुष इस संसार में, शरीर छूटने के पहले ही, काम और क्रोध से उत्पन्न हुए वेग को सह सकता है, वही योगी है, वही सुखी है। जो अपने मनः ही सुख मानता है, और उसी में रमता है, तथा भास्मा के मनः जो प्रकाश है, उसी से जो प्रकाशित है, वह ब्रह्म को प्राप्त होकर वही में लीन होता है। जिनके पाप शक्तियों से हीन हो चुके हैं, जिनमें सब द्विबिधार्थों को छोड़ दिया है, अपने भाषको जीत लिया है, सम्पूर्ण संसार के उपकार में लगे रहते हैं, वही अपि मोह पाते हैं।

ऐसे जो जीवन्मुक्त हो चुके हैं, उनका शरीर चाहे क्या रहे, चाहे छूट जाय, वे दोनों क्षणार्थ में प्रज्ञानम् में लीन हैं। जब उनका शरीर छूट जाता है तब भी उनके जीव के साथ जीव की क्षणार्थिक शक्ति विद्यमान रहती है। इसी का नाम परम गति है —

यदा पञ्चावतिष्ठन्ते ज्ञानानि मनसा सह ।

बुद्धिश्च न विचेष्टते तामाहुः परमा गतिम् ॥

कठोपनिषद्

जब मन के सहित पाँचों ज्ञानेन्द्रियाँ अपनी चञ्चलता छोड़ देती हैं, और बुद्धि का निश्चय भी स्थिर हो जाता है, तब उस दशा को परम गति, अर्थात् मोक्ष कहते हैं।

यों देखने में तो जीव किसी एक जन्म में मोक्ष प्राप्त करता है, परन्तु यह एक जन्म का काम नहीं है। अनेक पूर्वजन्मों से मोक्ष के लिए जिसको अभ्यास होता आता है, वही किसी जन्म में मोक्ष प्राप्त करता है। एक जन्म में पुण्य-कर्म करते करते जब जीव मृत्यु को प्राप्त हो जाता है, तब दूसरे जन्म में फिर वह उसी कार्य को शुरू करता है, और इस प्रकार धर्मान्तरण का प्रयत्न करते हुए अनेक जन्मों में उसको मोक्षसिद्धि होती है —

प्रयत्नाथतमानस्तु योगी सशुद्धकिञ्चिप ।

अनेकजन्मससिद्धिस्त्वतो याति परांगतिम् ॥

गीता, अ० ६

बहुत यत्न के साथ जब साधन करता है, तब योगी जिसके पाप कट गये हैं, अनेक जन्म के बाद, सिद्धि प्राप्त करता हुआ परमगति (मोक्ष) को प्राप्त होता है। उपनिषद् भी यही कहते हैं —

भिद्यन्ते हृदयग्रंथिदिष्ठयन्ते सर्वसंशया ।

क्षीयन्ते चाल्प कर्माणि तस्मिन् दृष्टे पराश्वरे ॥

मुण्डकोपनिषद् ।

जब इस जीव के हृदय की अविद्या, या अज्ञानरूपी गाठ, कट जाती है; और तत्त्वज्ञान से इसके सब सशय छिन्न हो जाते हैं,

तथा जितमे बुद्ध कर्म है, सब जिस समय क्षय हो जाते हैं, उस समय जब उस परमात्मा को जो भात्मा के भीतर-बाहर व्याप्त हो रहा है, देखाता है। यही उसकी मुक्ति की दशा है। मुक्ति की दशा में जीव स्वतन्त्र होकर परमात्मा में बास करता है, और इच्छानुसार सब लोकों में घूम सकता है तथा सब कामनाओं का भोग करता है —

एवं ब्रह्मसकलं ब्रह्म वो वै विहितं गृह्णातीत्येवम्वोम् ।

सोऽप्युते सर्वान्कामान् ब्रह्म ब्रह्मन् विप्रश्नितेति ॥

तेजितोऽप्यविष्ट

जो जीवात्मा अपनी बुद्धि और भात्मा में स्थित सत्य ज्ञान और अनन्त भाग्यस्वरूप परमात्मा को जानता है, वह उस व्यापकरूप ब्रह्म में स्थित होकर उस विप्रश्नित्' अर्थात् अनन्त विद्या-युक्त, ब्रह्म के साथ सब कामनाओं को प्राप्त होता है अर्थात् जिस भाग्य की कामना करता है, उस भाग्य को पाता है।

अनुप्य-ब्रह्म का यही परम पुद्गलार्थ है।



छठवां खण्ड सूक्ति-संचय

“वाग्भूषणं भूषणम्”

—राजर्षि भर्तृहरिः

विद्या

मातेव रक्षति पितेव हिते नियुक्ते
 कान्तेव चाभिरमयत्यपनीय खेदं ।
 लक्ष्मीं तनोति वितनोति च दिक्षु कीर्तिम्
 किं किं न साधयति कल्पलतेव विद्या ॥१॥

विद्या माता की तरह रक्षा करती है, पिता की तरह हित कामों में लगाती है, स्त्री की तरह खेद को दूर कर के मनोजन करती है, धन को प्राप्त कराकर चारों ओर यश फैलाती है। विद्या कल्पलता के समान क्या क्या सिद्ध नहीं करती ? पर्यात् सब कुछ करती है ॥१॥

स्वयौवनसम्पन्ना विशालकुलसन्भवा ।

विद्याहीना न शोभन्ते निर्गन्धा इष किंशुका ॥२॥

रूप और यौवन से सम्पन्न तथा ऊँचे कुल में उत्पन्न हुआ पुरुष बिना विद्या के निर्गन्ध पलास-पुष्प की भाँति शोभा नहीं देता ॥२॥

य पठति लिखति पश्यति परिपृच्छति पण्डितानुपाधयति ।

तस्य दिशाकरकिरणं नलिनीदलमिष विकास्यते बुद्धिः ॥३॥

जो पढ़ता है, लिखता है, देखता है, पूछता है, पण्डितों का साथ करता है, उसकी बुद्धि का इस प्रकार विकास होता है, जैसे सूर्य की किरणों से कमल ॥३॥

केयूरा न पिभूषयन्ति पुरं हारा न चन्द्रोज्ज्वला,

न स्नान न विषेपनं न कुसुमं नाद्यकृता मूर्धन्ना ।

याग्नेका समलंकारोति पुरुषं या संस्पृष्टा धार्यते

क्षीयन्ते फलु नृषगाणि सत्तव पाग्भूषणं नृषणम् ॥४॥

जायन-बहुता भयथा एषां के उज्यस हार इत्यादि पर
 मने सं मनुष्य की शोभा महों, और न स्नान चम्पन, पुष्प
 और बास संचारने से ही उचकी कुछ शोभा है—वास्तव में
 मनुष्य की शोभा सुन्दर और सुशिक्षित पाषो से ही है। अन्य
 सब भामूयण क्षीण हो जात है। एक बाणो ही ऐसा भूयण है
 जो सदा भूयण है।

सत्सगति

बाल्य विनो हृषी सिचति वापि धरुं
 माभोग्गति विचति पाप्मन्यकरोति ।
 नरः प्रसादवति सिद्ध तवाति कैठिय,
 सत्सगति कथं किं व करोति पु साव् ॥१॥

सत्सगति बुद्धि की अड़ता को हर छेती है, बापी को सत्य
 से सीखती है, मान को बढ़ाती है, पाप को हटाती है, बिल का
 प्रसन्न करती है, परा को फेंकाती है। बड़ो सत्सगति मनुष्य
 के छिय क्या क्या नहीं करती ॥१॥

सज्जनसंगो मा सृष्टि संवो माम्स्तु तदुवा स्नेहा ।
 स्नेहो यदि मा विरहो यदि विरहो माम्स्तु जीवित्नाथा ॥२॥

सज्जन का संग व हो ! यदि संग हो तो फिर स्नेह न हो ।
 यदि स्नेह हो तो फिर विरह न हो ! और यदि विरह हो तो
 फिर जीवन की भाग्या न हो ! ॥२॥

संज्जो पुक्कावपि संवित्तेपेव दृक्ते पुक्क ।
 यदि पुक्कीकविकिक्के बीजाकक्क प्रवाति महिमाक्क ॥३॥

कुलीन और गुणवान् होने पर भी संय-विशेष से ही मनुष्य

का आदर होता है। देखो, तूम्बीफल के बिना वीणादण्ड की कोई महिमा नहीं होती ॥३॥

रे जीव सत्सगमवाप्नु हि त्वमसत्प्रसङ्गं त्वरया विधाय ।
धन्योऽपि निन्दां लभते कुसङ्गात् सिन्दूरबिन्दुर्विधवाललाटे ॥४॥

रे जीव, तू बुरी सगति छोड़कर शोध ही सत्सगति का ग्रहण कर ; क्योंकि बुरी सगति से भला आदमी भी निन्दित होता है—जैसे विधवा के मस्तक में सिन्दूर का बिन्दु ॥४॥

भाग्योदयेन बहुजन्मसमार्जितेन सत्सङ्गमञ्च लभते पुरुषो यदा वै ।
अज्ञानहेतुकृतमोहमदान्धकारनाशं विधाय हि तदोदयते विवेक ॥५॥

जब मनुष्य का अनेक जन्मों का भाग्य उदय होता है, तब उसको सत्संगति प्राप्त होती है, और सत्संगति के प्राप्त होने से जब उसका अज्ञानजन्य मोह और मद का अन्धकार नाश हो जाता है, तब विवेक का उदय होता है ॥५॥

सन्तोष

सर्पा पिवन्ति पवनं न च दुर्बलान्ते
शुष्कैर्नृणैर्वनगजा यलिनो भवन्ति ।
कन्दै फलैर्मुनिवरा. क्षपयन्ति कालं
सन्तोष एव पुरुषस्य पर निधानम् ॥१॥

सर्प लोग हवा पीकर रहते हैं, तथापि वे दुर्बल नहीं हैं। जंगल के हाथी सूखे तृण खाकर रहते हैं, फिर भी वे बली होते हैं। मुनिवर लोग कन्दमूलफल खाकर ही कालक्षेप करते हैं। सन्तोष ही मनुष्य का परम धन है ॥१॥

वचमिह वरिष्ठ्या कल्पयैस्त्वं दुष्टके
 सम इह वरिष्ठो भो विद्विज्जो विद्विषे ।
 ए दि वचति वरिष्ठो कल्प तृष्णा विज्ञाता
 नवसि च वरिष्ठो कोर्ध्वबाण्यो वरिष्ठ्यः ॥

हम छात्र के कपड़े पहन कर ही समुत्पन्न हैं, तुम सुन्दर
 ऐश्वर्यी वस्त्र पहनते हो । दोनों में समतुल्य व्यवहार ही है । कोई
 विशेषता नहीं । वास्तव में वरिष्ठ बही है, जिसमें मारी तृष्णा
 है । जहाँ मन समुत्पन्न है, वहाँ धर्म धनवान् है, धर्म वरिष्ठ
 है ॥१॥

धर्म करोति तेन कर्त्तव्यैर्त्वंपरिषोक्तम् ।

वचनवच ए शोकं एवमास्ते निरुहः इत्या ॥२॥

धर्म ही इच्छा करनेवाला वीरता विक्रमता है, जो धर्म
 कर्मा होता है, वह भूमिमान में मूर रहता है, और जिसका
 धर्म नष्ट हो जाता है, वह शोक करता है। इस छिप जो निरुह
 है, समतोपी है वह सुख में रहता है ॥३॥

भक्तिवन्तश्च शान्तश्च धान्तश्च समवेत्तः ।

तदा समुत्पन्नस्यः धर्मो एकमेवाः क्तिवा ॥४॥

जो भक्तिवान् है जिसमें इन्द्रियाँ को जीत छिमा है, जिसका
 हृदय शान्त है, बिच स्थिर है, मन सदैव समुत्पन्न है, उसको
 सम्पूर्ण विद्यार्थे सुखमय है ॥५॥

साधुवृत्ति

छिन्नोऽपि चन्दनतरुर्न जहाति गन्धम्
 वृद्धोऽपि वारण्यपतिर्न जहाति लीलाम् ।
 यन्त्रार्पितो मधुरता न जहाति चक्षु
 क्षीणोऽपि न त्यजति शीलगुणान् कुलीन ॥१॥

चन्दन का वृक्ष काटा हुआ भी गन्ध को नहीं छोड़ता, गजेन्द्र वृद्ध होने पर भी क्रीडा नहीं छोड़ता, ईख कोल्हू में देने पर भी मिठास नहीं छोड़ती । कुलीन पुरुष क्षीण हो जाने पर भी अपने शील-गुणों को नहीं छोड़ता ॥१॥

विद्याविलासमनसो घृषशीलशिक्षा
 सत्यव्रता रहितमानमेलापहार ।
 संसारदुःखलनेन उभूषिता ये
 धन्या नरा विहितकर्मपरोपकारा ॥२॥

जिनका मन विद्या के विलास में तत्पर रहता है, जो शील-स्वभावयुक्त हैं, सत्य ही जिनका व्रत है, जो अभिमानसे रहित हैं, जो दूसरों के दोषों को भी दूर करनेवाले हैं, संसार के दुःखों का नाश करना जिनका भूषण है—इस प्रकार जो परोपकार के कार्यों में ही लगे रहते हैं, उन मनुष्यों को धन्य है ॥२॥

उदयति यदि भानु पश्चिमे दिग्विभागे
 प्रचलति यदि मेरु शीतता याति वह्नि ।
 विकसति यदि पद्म' पर्वताग्रे शिलायाम्
 न भवति पुनरुक्त भाषितं सञ्जनानाम् ॥३॥

चाहे सूर्य पूर्व को छोड़कर पश्चिम दिशा की ओर उदय हो, चाहे सुमेरु पर्वत अपने स्थान से टल जाय, चाहे आग

शीतलता को धारण कर छि, और पाइ पर्यंतकी विद्याओं में
कमल फूलन सये, पर सज्जना का यत्न नहीं करूँ सखता ॥३३॥

कथं प्रयादयन् प्रथं ह्यनं उपासुचो वाच ।

कथं परोपकारं केना केना व त कथाः ॥३४॥

जो सदैव प्रसन्नपदन रहते हैं, जिनका हृदय दया से पूर्ण
है, जिनकी वाणी से भस्मृत रूपकता है, जो नित्य परोपकार
किया करते हैं—येसे मनुष्य किसको समझीय नहीं है ? ॥३४॥

अथ विद्वान्मनु राजस्यमीकारि फलस्वत्वा इमान्भारत ।

अथस्तुवरां विदुः कृतान्ते ब्रह्म तु मर्दिनं भवाम्भैतु यमोत् ॥३५॥

पाई भर्मा मरा राज्य खडा जाय, भयया ज्यर से लखपारों
की धारें बरसैं मिरा शिर भर्मा काळ के हवाछे हा जाय, परन्तु
मेरी मति धर्म से न पकटे ॥३५॥

शोभं कुतर्बेव व कुण्डल्य दानेन पान्निं तु कन्दनेव ।

विमासि कथा करमापण्यं परोपकारैर्बेतु कन्दनेव ॥३६॥

जान शास्त्रों के सुवन से शोभा पात है, कुण्डल पहनने से
नहीं। हाथ दान से सुशोभित होत है, कण्डूय से नहीं। क्याशील
पुरुषोंके शरीर की शोभा परोपकार से है कन्दूय से नहीं ॥३६॥

विपदि वैर्बयथाभुवने क्षमा सन्धि वाक्सुधा मुचि विद्वया ।

पथसि वायिद्विष्यन्तं मुष्यै प्र३विधिदमिं हि महात्मनाम् ॥३७॥

विपत्तिमें घेर्ये येक्षर्य में क्षमा सन्धि में वचन वातुरी मुख
में बीरता यद्य में प्रीति, विद्या में व्यसव—ये बातें महात्मनों
में स्वामाधिक ही होती हैं ॥३७॥

अरे इडाकस्तवाय विरिधि पुस्तारप्रविद्या ।

मुषे सत्वा वासी विद्वन्नि मुक्तोर्बीर्बेतुम् ॥

हृदि स्वच्छावृत्तिः श्रुतमधिगतैकव्रतफलम् ।

विनाप्यैश्वर्येण प्रकृति महतां मन्दनमिदम् ॥८॥

कर से सुन्दर दान देते हैं, सिर से वड़ों के चरणों में गिरते हैं, मुख से सत्य वाणी बोलते हैं, अतुल बलवाली भुजाओं से सग्राम में विजय प्राप्त करते हैं, हृदय में शुद्ध वृत्ति रखते हैं, क्रान्तों से पवित्र शास्त्र सुनते हैं—विना किसी ऐश्वर्य के भी महापुरुषों के यही आभूषण हैं ॥८॥

बनेऽपि दोषाः प्रभवन्ति रागिणां गृहेषु पचेन्द्रियनिग्रहस्तप ।

अकुत्सिते कर्मणि यः प्रवर्तते निवृत्तरागस्य गृहं तपोवनम् ॥९॥

जिनका मन विषयों में फँसा हुआ है, उनसे, वन में रहने पर भी, दोष होते हैं, पाचों इन्द्रियों का निग्रह करने से घर में भी तप हो सकता है। जो लोग सत्कार्यों में प्रवृत्तरहते हैं, और विषयों से मन को हटा चुके हैं, उनके लिए घर ही तपोवन है ॥९॥

धैर्यं यस्य पिता क्षमा च जननी शान्तिश्चिरं गेहिनी

सत्यं सूरुरय दया च भगिनी भ्राता मनः संयमः ।

शय्या भूमितलं दिशोऽपि वसनं ज्ञानामृतं भोजन-

मेते यस्य कुटुम्बिनी घट सखे कस्माद्दुःखं योगिन ॥१०॥

श्रैय जिनका पिता है, क्षमा माता है, शान्ति स्त्री है, सत्य पुत्र है, दया बहन है, सयम भाई है, पृथ्वी शैया है, दिशा ही वस्त्र है, ज्ञानामृत भोजन है—इस प्रकार जिनके सब कुटुम्बी मौजूद हैं, उन योगियों को अब और किस बात की आवश्यकता रह गई ॥१०॥

यथा चतुर्भिः कनकं परीक्ष्यते निघर्षणच्छेदनतापताडनैः ।

तथा चतुर्भिः पुरुषः परीक्ष्यते त्यागेन शीघ्रेण गुणेन कर्मणा ॥११॥

जिस प्रकार सोने की चार तरह से—अर्थात् घिसने से,

काटने से, तपाने से और पीटने से परीक्षा होती है, उसी प्रकार मनुष्य की भी धार तप से—अर्थात् त्याग, शिस्त, गुण और धर्म से—परीक्षा होती है ॥११॥

परबद्धरणे पंगु वपारविरोहनेऽम्बुवा ।

वृक्ष परापवाद स भवति धर्मिणो ज्ञया ॥१२॥

वृक्षों का ध्वंस हरण करने में जो पंगु है, और वृक्षों की पत्ती को कुड़ुपि से देखने में जो अम्बुवा है, तथा वृक्षों की निम्नाकरण में जो गूँगा है, वह संसार में सब को प्याठ होता है ॥ १२ ॥

विद्या विवादाय धर्म मदाय कठिण जेवां वरिषीक्याय ।

काम्य तापोविपरीतमेव ज्ञानाय ज्ञानाय च पञ्जाय ॥१३॥

बुद्धों के पास विद्या विवाद के छिप, धन धर्म के छिप और शक्ति वृक्षों को कष्ट देने के छिप होती है; परन्तु साधु लोग इन सब वस्तुओं का उल्टे विपरीत उपयोग करते हैं—अर्थात् विद्या से ज्ञान बढ़ाते हैं, धन से दान करते हैं, और शक्ति से निर्बलों की रक्षा करते हैं ॥ १३ ॥

दुर्जन

दुर्जनः प्रियवादी च वेदवित्पापकारकः ।

मनु विद्वति विद्वाने इति वाक्यादर्थं विन्द ॥१॥

दुर्जन लोग मनुष्यमापी होते हैं, पर यह बात उनके विवादाय का कारण नहीं हो सकती क्योंकि उनकी जिह्वा में तो मिठास होता है, पर हृदय में इकाइस विष भरा प्यता है ॥ १ ॥

दुर्जनं प्रथम वन्दे सज्जनं तदनन्तरम् ।

मुखप्रक्षालनात्पूर्वं गुदप्रक्षालनं यथा ॥२॥

दुष्ट को पहले नमस्कार करना चाहिए—सज्जन को उसके बाद । जैसे मुँह धोने के पहले गुदा को धोते हैं ॥ २ ॥

अहो प्रकृतिसादृश्यं श्लेष्माणो दुर्जनस्य च ।

मधुरै कोपमायाति तित्ककेनैव शाम्यति ॥३॥

देखो, श्लेष्मा और दुष्ट की प्रकृति में कितनी समता है—दोनों मिठाई से विगडते हैं और कड़ुआई धारण करने से शान्त हो जाते हैं ॥ ३ ॥

गुणगणगुफितकाव्ये मृगयति दोषं गुणं न जातु खल ।

मणिमयमन्दिरमध्ये पश्यति पिपीळिका छिद्रम् ॥४॥

अनेक गुणों से भरे हुए काव्य में भी दुष्ट लोग दोष ही ढूँढते हैं, गुण की तरफ ध्यान नहीं देते—जैसे मणियों से जड़े हुए सुन्दर महल में भी चींटी छिद्र ही देखती है ॥ ४ ॥

पते सत्पुरुषा परार्थघटका स्वार्थं परित्यज्य ये

सामान्यास्तु परार्थमुद्यममृत- स्वार्थाविरोधेन ये ।

तेऽप्यो मानवराक्षसा परहितंस्वार्थाय विघ्नन्ति ये

ये विघ्नन्ति निरर्थकं परहितं ते के न जानीमहे ॥५॥

सत्पुरुष वे हैं, जो अपना स्वार्थ त्याग करके दूसरे का हित करते हैं । जो अपने स्वार्थ को न विगाडते हुए दूसरे का भी हित करते हैं, वे साधारण मनुष्य हैं । जो अपने स्वार्थ के लिए दूसरे के हित का नाश करते हैं वे मनुष्य के रूप में राक्षस हैं । परन्तु जो बिना मतलब ही दूसरे के हित की हानि करते रहते हैं, वे कौन हैं, सो हम नहीं जानते ॥ ५ ॥

मित्र

अपि सम्पूर्णा दुर्गता कर्तव्या ह्यसौ दुर्गा ।

करीषा परिपूर्णैरिन्द्रोदयमेवैते ॥१॥

जाहे सब प्रकार से मरा-पूरा हो, परन्तु फिर भी बुद्धि
माम् मनुष्य को मित्र भवस्य क्वात्मा चाहिये, देखो समुद्र सब
प्रकार से परिपूर्ण होता है, परन्तु कन्दोदय की इच्छा फिर भी
रखता है ॥ १ ॥

मित्रान्प्राक्कल्पयन्तु दृष्ट्यान्वामनि वे क्वा ।

उन्माग्निवाग्नि कुर्वीत सम्प्रदानेव वात्मना ॥२॥

अिसके मित्र हैं, वह मनुष्य कठिन कार्यों को भी सिद्ध कर
सकता है, इस छिपे अपने समान योग्यता वाले मित्र भवस्य
क्वाने चाहिये ॥ २ ॥

पापान्निवारयति बोधयते दिवाय

गुणानि गृह्णाति गुणान्प्रकटयत्येति ।

भास्वर्गस्य च यच्छासि क्वासि काव

अग्निमन्त्रमग्निं प्रकल्पितं उच्यते ॥३॥

पापों से बचाता है, कर्मपाप में क्षमाता है, छिपाने योग्य
बातों को छियाता है गुणों को प्रकट करता है, भाषण में साध
गही छोड़ता समय पर सहायता देता है, ये सगुण के कर्मपाप
सम्बत लोग कहते हैं ॥ ३ ॥

बाहुरे अपने प्राप्ते बुद्धिसे अनुकूल्ये ।

उच्छासि सम्प्रदाने च कल्पयति च वात्मना ॥४॥

वीडा के समय प्यसनों में फँसने पर, बुद्धि में, अनुकूलों

से सकट प्राप्त होने पर, राजद्वार, अर्थात् कोई मुक्तदमा इत्यादि लगने पर, और श्मशान में जो ठहरता है, वही भाई है ॥ ४ ॥

भारम्मगुर्वी क्षयिणी क्रमेण लब्धी पुरा वृद्धिमती च पश्चात् ।

दिनस्य पूर्वार्धपरार्धमिन्ना छायेव मैत्री खलसज्जनानाम् ॥५॥

जैसे दोपहर के पहले छाया प्रारम्भ में तो बड़ी और फिर क्रमशः क्षय को प्राप्त होती जाती है, और दोपहर के बाद की छाया पहले छोटी और फिर बराबर बढ़ती ही जाती है, वैसे ही दुष्टों और सज्जनों की मित्रता भी क्रमशः सुबह और शाम के पहर की छाया की भाँति घटने-बढ़नेवाली होती है ॥ ५ ॥

परोक्षे कार्यदन्तारं प्रत्यक्षे प्रियवादिनम् ।

धजयेत्तादृश मित्रं विपकुम्भं पयोमुखम् ॥६॥

पीछे तो कार्य की हानि करते रहते हैं, और आगे मधुर वचन बोलते रहते हैं। इस प्रकार के विप भरे हुए घड़े के समान मित्रों को, कि जिनके सिर्फ मुख पर ही दूध लगा है, छोड़ देना चाहिए ॥ ६ ॥

मुखप्रसन्नं विमला च दृष्टि कथाञ्जुरागो मधुरा च वाणी ।

स्नेहोऽधिकं सम्भ्रमदर्शनञ्च सदानुरक्तस्य जनस्य लक्षणम् ॥७॥

प्रसन्न मुख, विमल दृष्टि, वार्तालाप में प्रेम, मधुर वाणी, स्नेह अधिक, बार बार मिलने की इच्छा, इत्यादि प्रेमी मित्र के लक्षण हैं ॥ ७ ॥

बुद्धिमान्

अस्मान् पुस्तकस्य मार्गं इत्या च इत्या ।

स्वार्थं च साधक्योभ्याम् स्वार्थं चो हि पूर्वम् ॥१॥

अपमान को भावे छेकर और मान को पीछे हटाकर बुद्धिमान् मनुष्य को अपना मतलब साधना बाहिर, क्योंकि स्वार्थ का नाश करना पूर्वता है ॥ १ ॥

बुद्धिर्ध्वं स्वप्ने द्या परज्जे घाब्यं च्छा हुम्भे

प्रीतिः चाबुज्जे स्मयाः कथञ्चने चिह्नञ्चने चार्त्तकम् ।

धौवं चाबुज्जे क्षमा गुह्यञ्चने चारीञ्चने पूर्वता ।

इत्थं वे पुत्ता कम्मत्तं कुम्भक्यास्तेप्पेव कोम्मिप्पिठि ॥२॥

अपने सोचों के साथ च्छारता वृक्षों पर द्या, बुद्धिर्ध्वं के साथ छटा चापुजों पर भक्ति, बुद्धि के साथ अस्मिमान् विद्वानों के साथ सज्जता बुद्धि के साथ दूरता च्छे सोचों के साथ क्षमा स्त्रियों के साथ चतुरता—इस प्रकार जो मनुष्य वर्ताव करने में कुम्भ है, वही संसार में रह सकता है और वहीं से संसार रह सकता है ॥ २ ॥

अदीरिवात्तं पम्भान्पि पृच्छते इवात्तव चाप्यात्तव बहन्ति देहिताः

अबुज्जन्तुपूहति पण्डितो अवा कोम्मिप्पिठ्यात्तव हि पुत्ता ॥३॥

कहीं हुई बात को तो पशु भी समझ लेते हैं। बैचो, हापी, घोड़े इत्यादि संकित से ही काम करते हैं, लेकिन पंडित लोग बिना कहीं हुई बात भी जान लेते हैं, क्योंकि उनकी बुद्धि दूसरों की बेच्यारों से ही बात को छह सकती है ॥ ३ ॥

कोम्मइत्ते अकम्मइत्तव चाते चिपत्तते कोम्मिप्पिठिं चिप् ।

पत्तत्तं संवत्तं कम्मत्तं धौवं चिप्पेवं च्छां च्छां च्छां च्छां ॥४॥

कौओं के काँव काँवमें कोकिल की कूक कहीं अच्छी लगती है ? दुष्ट लोग जब आपस में भगड रहे हों, तब बुद्धिमान् का चुप रहना ही अच्छा ॥४॥

न स्वल्पस्य कृते भूरि नाशयेन्मतिमान्नरः ।

एतदेवात्र पाण्डित्यं यत्स्वल्पात् भूरिरक्षणम् ॥५॥

बुद्धिमान् मनुष्य को थोड़े के लिए बहुत का नाश न करना चाहिए । बुद्धिमानी इसी में है कि थोड़े की अपेक्षा बहुत की रक्षा करे ॥५॥

मूर्ख

उपदेशो द्वि मूर्खाणां प्रकोपाय न शान्तये ।

पय पानं भुजङ्गाना केवलं त्रिपवर्धनम् ॥१॥

मूर्ख लोगों को उपदेश करने से वे और कुपित होते हैं, शान्त नहीं होते । सर्प को दूध पिलाने से केवल त्रिप ही बढ़ता है ॥१॥

मुक्ताफलै किं मृगपक्षिणा च मिष्टान्नपान किमु गर्दभाणाम् ।

अंधस्य दीपो वधिरस्य गीतम् मूर्खस्य किं सत्यकथाप्रसंग ॥२॥

मृग और पक्षियों इत्यादि को मुक्ताफलों से क्या काम ? गधों को सुन्दर भोजन से क्या मतलब ? अन्धे को दीपक और बहरे को सुन्दर गीत का क्या उपयोग ? इसी प्रकार मूर्ख मनुष्य को सत्यकथा से क्या काम ? ॥२॥

शक्यो वारयितुं जलेन हुत्सुक् छत्रेण सूर्यातपो ।

नागेन्द्रो निशिताकुशेन समदो दण्डेन गो गर्दभौ ॥

आविर्भवेत्प्रत्यक्षं विविधैर्मन्त्रप्रयोगैर्विद्वान् ।

सर्वस्वौचस्मिन्निश्चिन्नास्त्रविधिर्ब्रह्मसूत्रस्य वास्तवोच्यते ॥१०॥

अब से भस्मि का प्रयोग किया जा सकता है, छठे से प्रबंध भूप रोकी जा सकती है, प्रतबाला हाथी भी भंगुण से बस किया जा सकता है, बौद्ध-गधे इत्यादि भी इन्हे से रास्ते पर साथे जा सकते हैं, मनेक प्रकार की भोपधियाँ से रोगाँका भी इलाज किया जा सकता है, नाना प्रकार के मंत्रों के प्रयोग से विष भी दूर किया जा सकता है, इस प्रकार सप्त का इलाज शास्त्र में कहा है, पर मूर्ख की कोई भोपधि नहीं ॥११॥

मूर्खस्य च किदापि मर्षो दुर्बलं ज्ञानम् ।

अप्यत्र इदमिदं पञ्चाङ्गस्येव ॥११॥

मूर्ख के पाँच किन्तु हैं—अभिमान कठोर बचन क्रोध, लज और दूसरों के वचनों का निरादर ॥११॥

अथ अत्राङ्गस्येव पञ्चाङ्गी मारुत वेदा न तु अन्वयम् ।

एवं हि पञ्चाङ्गानि क्लृप्ताङ्गीत्येव चार्थेण मुञ्जा अत्राङ्गस्य ॥

जैसे किसी पक्ष के ऊपर अन्वय छाया हो तो वह सिर्फ अयने शीत का ही ज्ञान रखता है, अन्वय के गुण का उसे कुछ भी ज्ञान नहीं। इसी प्रकार क्लृप्त शास्त्र पञ्चाङ्गमा भी यदि बसका अर्थ नहीं आता तो वह केवल गधे के समान ही उस शास्त्र का मार डोमैवाका है ॥१२॥

वेदा न विद्या न ज्ञानं न शान्तिं न शीतं न गुण्ये न अन्वयम् ।

ते मन्त्रलोके मुक्तिवारमुञ्जा मन्त्राङ्गस्येव पञ्चाङ्गस्य ॥१२॥

जिनमें विद्या, तप, दान, शीत, गुण धर्म कुछ नहीं है, वे इस सूर्युच्छोक में, पृथ्वीके भारहृय, मनुष्यके वैष्णो पञ्चु हैं ॥१३॥

पाण्डित और मूर्ख

इमत्तुरगरथे प्रयान्ति मूढा धनरहिता विबुधाः प्रयान्ति पद्भ्याम् ।

गिरिशिखरगताऽपि काकपक्षि पुलिनगतैर्न समत्वमेति हंसैः ॥१॥

मूर्ख लोग हाथी-घोड़े और रथ पर चलते हैं—गरीब पाण्डित वेचारे पैदल ही चलते हैं (परन्तु क्या इससे मूर्ख धनवान् गरीब पाण्डित की बराबरी कर सकते हैं ?) ऊँचे पर्वत पर चलनेवाली कौओं की पक्षि नीचे नदी तीर चलनेवाली हंस—श्रेणीकी समता नहीं कर सकती ॥१॥

शास्त्राण्यधीत्यापि भवन्ति मूर्खा यस्तु क्रियावान् पुरुष स विद्वान् ।

उचिन्तितं चोपधमातुराणां न नाममात्रेण करोत्यरोगम् ॥२॥

शास्त्र पढ़े हुए भी लोग मूर्ख होते हैं। वास्तव में जो उस शास्त्र के अनुसार चलता है, वही विद्वान् है। खूब सोची-समझी हुई ओपधि भी नाममात्र से किसी रोगी को चंगा नहीं कर सकती ॥२॥

विद्वानेव विजानाति विद्वज्जनपरिश्रमम् ।

न हि बंध्या विजानाति गुर्वी प्रसववेदनाम् ॥३॥

विद्वान् पुरुष का परिश्रम विद्वान् ही जान सकता है। बंध्या स्त्री प्रसव की पीडा कभी नहीं जान सकती ॥

काव्यशास्त्रविनोदेन कालो गच्छति धीमताम् ।

व्यसनेन च मूर्खाणां निद्रया कलहेन च ॥४॥

बुद्धिमान् मनुष्यों का समय सदैव काव्य और शास्त्र के विनोद में व्यतीत होता है ; और मूर्ख लोगों का समय व्यसन, निद्रा अथवा लडाई-झगड़े में जाता है ॥४॥

एकता

अस्वाभावमपि कर्तुं पंडितः कार्ष्णिकः ।

एतेषु अस्वभावैर्बन्धते मज्जिमिक्ख ॥१॥

छोटी छोटी वस्तुमोंकी भी एकता कार्यको सिद्ध करनेवाली होती है। तिनकों के मेळसे बना हुआ रस्ता मत्त हाथियों को भी बांध सकता है ॥१॥

न वे मिल्वा आतु वरन्ति बर्षम् न वे क्वं प्राप्नुवन्तीह मिल्वाः ।

न वे मिल्वा मौरवं प्राप्नुवन्ति न वे मिल्वा प्रकर्म रोचन्ति ॥२॥

जिन लोगोंमें फूट है, वे न तो धर्म का आचरण कर सकते हैं, न सुख प्राप्त कर सकते हैं, न यौग्य प्राप्त कर सकते हैं, भीरु न शान्ति का सम्पादन ही कर सकते हैं ॥२॥

बहवो न विरोहन्वा दुर्जन्मास्तेऽपि दुर्बलाः ।

एतुगणमपि बालेन मज्जयान्ते विवेकिता ॥३॥

बाहै दुर्बल भी हों, परन्तु यदि वे सुसंगठित संख्या में अधिक हैं, तो उनसे विरोध न करना चाहिए, क्योंकि वे दुर्बल होने पर भी संख्या में अधिक हैं, इसलिये मुश्किल सँजीते जा सकते हैं। देखो—कुसकारों हुए साँपको भी कीटियाँ मिस्रकर का जाती हैं ॥३॥

कं सं कं पञ्च कं पञ्च स्रं न ते ।

अनैः सह विवारे तु कं पञ्च स्रं न वै ॥४॥

यों तो (साँपसँके झड़ने से) हम (पाँचव) पाँच भीरु (कीरव) सौ हैं, पर जहाँ दूसरे के साथ मज्जड़ा था पड़े, हम सब को मिस्रकर एक सौ पाँच हो जाता चाहिए ॥४॥

यत्रात्मीयो जनो नास्ति भेदस्तत्र न विद्यते ।

कुठारे दण्डनिर्मुक्ते मिथ्यन्ते तत्र कथम् ॥५॥

जहा अपना कोई नहीं, वहा भेद फूट नहीं सकता है । बिना दण्डे की कुल्हाड़ी वृक्षों को कैसे काट सकती है । “कुल्हाड़ी का दण्डा अपने गौत का काल होता है ” ॥५॥

कुठारमालिका दृष्ट्वा कम्पिता सकला द्रुमा ।

वृक्षस्त्वरुवाचेदं स्वजातिर्नैव दृश्यते ॥६॥

कुल्हाड़ियों के झुंड को देखकर सारे वृक्ष कापने लगे ; पर उनमें एक बुढ़ा वृक्ष था, उसने कहा (भाई कापते क्यों हो, ये खाली कुल्हाड़ियां कुछ नहीं कर सकतीं) इनमें अपनी जाति का (दण्डा) तो कोई दिखाई नहीं देता । (जब तक कोई अपने गिरोह का शत्रुओं के समूह में घुसकर भेद नहीं देते, तब तक प्रबल शत्रु-समूह भी कुछ नहीं कर सकता) ॥६॥

स्त्री

कार्येषु मन्त्री करणेषु दासी भोज्येषु माता शयनेषु रम्भा ।

धर्मानुकूला क्षमया धरित्री पाद्गुण्यमेतद्धि पतिवतानाम् ॥१॥

पतिव्रता स्त्रियों में छै गुण होते हैं—१ कार्य में मन्त्री के समान उचित सलाह देती हैं , २ सेवा करने में दासी के समान आराम देती हैं , ३ भोजन कराने में माता के समान ध्यान रखती हैं , ४ शयन के समय रम्भा अप्सरा के समान सुख देती हैं , ५ धर्मकार्यों में सदा अनुकूल रहती हैं , और ६ क्षमा में पृथ्वी के समान सहनशील होती हैं ॥१॥

ब्रह्मर्षिं पृथक् राजा ब्रह्मर्षं पृथक्ते वधी ।

ब्रह्मर्षं पृथक्ते विद्यां स्त्री ब्रह्मर्षी विवर्षति ॥१॥

राजा धनी और विद्याक्षी भोग तो घूमते फिरते हुए पूजे जाते हैं, परन्तु स्त्री घूमती फिरती हुई मद्य मद्यना भ्रष्ट हो जाती है ॥१॥

सा कविता सा वक्षिष्य वक्ष्याः अस्मन्म दक्षिणैवापि ।

कविद्वयं वक्षिष्यं सरलं सरलं च सखरं भवति ॥२॥

कविता बही है; और धमिता बही है कि जिसको भ्रष्ट करने और दूर करने मात्र से कवि का हृदय और पति का हृदय गुरुत्त ही प्रसन्न और द्रवित हो जाता है ॥२॥

पुत्रोपा महास्ययाः पुत्राश्च पुत्रोपायाः ।

स्त्रियः कियो पुत्रोपायास्तन्माह्वया विवर्षते ॥

द्विज्यां घर की लक्ष्मी है, हस्तिय से पुत्र्य है, बड़े भाग्य-वाली है, पुष्पशोभा है, घर की वीथि है। उनकी रक्षा विशेष रूप से करनी चाहिए ॥३॥

परस्त्री-निषेध

परिहरतु कालमापुर्णं हस्तमिति श्रीकृष्णमण्डित कर्णार्थं चंद्र ।

हर हरिहरिबीरयोमिच्छितं कथं दपुत्रकर्मजोक्तो ह्युमिति ॥१॥

यदि मनुष्य को अपने प्राण प्यारे हैं, तो वह परस्त्री के संसर्ग को छोड़ देवे। देवों सीता का हरण करनेके कारण इस सिरवासे सिर पिरा दिये गये ॥१॥

अपसर मधुकर दूर परिमलबहुलेऽपि केतकीकुसुमे ।

इह न हि मधुलवलाभो भवति परं धूलिधूसरं घटनम् ॥२॥

हे मधुकर ! बहुत परागवाले केतकी-कुसुम से भी दूर हो रहो । यहा रस तो ज़रा भी नहीं मिलेगा—हा, मुख धूल से अवश्य भर जायगा ॥ २ ॥

रक्षपतिर्जनकजाहरणेन धाली—

तारापहारविधिना स च कीचकोऽपि ।

पांचालिकाप्रमथनान्निधनं जगाम

तस्मात्कदापि परदाररतिं न कुर्यात् ॥३॥

सीता के हरण से रावण, तारा के हरण से चालि और औपदी को छेड़ने से कीचक मारे गये । इस लिए परस्त्री से कभी ससर्ग न करो ॥ ३ ॥

वसाङ्गारसमा नारो घृतकुम्भसम पुमान् ।

तस्मात् वर्हिं घृत चैव नैकत्र स्थापयेद् बुधः ॥४॥

स्त्री जलते हुए अगार की तरह है, और पुरुष घी के घडे के समान है । इस लिए आग और घी, दोनों को बुद्धिमान् लोग एक जगह न रखें ॥ ४ ॥

पश्यति परस्य युवतीं सकाममपि तन्मनोरथं कुर्वते ।

ज्ञात्वैव तदप्राप्तिं व्यर्थं मनुजो हि पापभागभवति ॥५॥

मनुष्य दूसरे की युवती स्त्री देखता है ; और यह जानते हुए भी कि यह मुझको मिलेगी नहीं, कामातुर होकर उसके पाने की इच्छा करता है ! अपने इस व्यवहार से वह बृथा पाप का भागी बनता है ॥ ५ ॥

दैव

अस्मिन् स्थिति देवस्थितं वस्ति देवस्तं विवर्षति ।

जो व्यवसायी अथवा कर्मचारी कर्मस्थानों में ही रहकर रहता है । १ ॥

ईश्वर जिसकी रक्षा करता है, वह अन्य किसी की रक्षा के बिना भी सुरक्षित रहता है, और ईश्वर जिसके अनुकूल नहीं है, वह सुरक्षित होने पर भी नष्ट हो जाता है। अर्थात् यथा मन में छोड़ देने पर भी जीवित रहता है, और यद्यपि यथा छे पाया पोषा हुआ भी घर में नष्ट होता है ॥ १ ॥

अनुकूलतामुक्ते हि विषीं अस्मिन्स्थितिं अनुभावता ।

प्रतिदुष्टतामुक्ते हि विषीं विद्वत्प्रति बहुधापनता ॥ २ ॥

परमात्मा के अनुकूल होने पर थोड़ा साधन भी विफल हो जाता है, और प्रतिदुष्ट होने पर बहुत साधन भी विफल हो जाता है ॥ २ ॥

न निर्मिक क्व न ह्ये न ह्ये न ह्ये न ह्ये न ह्ये न ह्ये न ह्ये न ह्ये ।

क्यापि नृणां नृणां नृणां नृणां नृणां नृणां नृणां नृणां नृणां । ३ ॥

ज्ञान का हित न कर्मों पेशा हुआ, और न किसी भी देश न सुख फिर भी धीरामस्त्रज्ञा का उत्तम प्राप्त करने का साधन समाया। विनाश-कास माने पर बुद्धि विपरीत हो जाती है ॥ ३ ॥

नृति वाच्यभुवात् उक्तव्यम् उक्तं नृति ।

वस्ति वाच्यं नृति नृति नृति नृति नृति नृति नृति नृति । ४ ॥

बड़े बड़े सुखदायक पुण्य कर्मों का कि जो एक पूर्ण नृति नृति नृति है रक्षता है, परन्तु फिर भी उनका अर्थानुभव होता है हाथ देव की यह मूर्खता ॥ ४ ॥

परगृह-गमन

अयममृतनिधान नायकोऽप्यौपधीना-

ममृतमय शरीर कान्तियुक्तोऽपि चन्द्र ।

भवति विगतरदिमर्मण्डलं प्राप्य मानो

परसदननिविष्ट को लघुत्व न याति ॥१॥

चन्द्रमा अमृत का भंडार है, ओपधियों का पति है, इसका शरीर अमृतमय है, कान्तियुक्त है, फिर भी जब यह सूर्य के मंडल में जाता है, तब (अमावस को) इसका तेज नष्ट हो जाता है। (सब है) दूसरे के घर जाने से कौन लघुता को नहीं प्राप्त होता ॥ १ ॥

पद्मागच्छ समाश्रयासनमिदं कल्माश्चिरात् दृश्यसे ।

का वर्ता कुशलोऽसि बालसहित प्रीतोऽस्मि ते दर्शनात् ॥

एव ये समुपागतान्प्रणयिना प्रह्लादयन्त्यादरात् ।

तेषां युक्तमशंकितेन मनसा हर्म्याणि गन्तुं सदा ॥२॥

“भाइये, यहा पर विराजिये, आसन मौजूद है, बहुत दिन के बाद दर्शन दिये, कहिये, क्या समाचार है? बालवचनों-सहित कुशल से तो हैं? आपके दर्शन से मुझे बड़ा आनन्द हुआ”— इस प्रकार जो अपने घर आये हुए प्रेमियों को आदर-पूर्वक प्रसन्न करते हैं उनके घरमें सदा, बिना किसी सकोच के, जाना चाहिए ॥२॥

नाभ्युत्थानक्रिय यत्र नालापा मधुराक्षरा ।

गुणदोषकथा नैव तत्र हर्म्यं न गम्यते ॥३॥

जहा पर कोई उठकर लेवे भी नहीं, और न मधुर वचनों से बोले, और न किसी प्रकार की गुण-दोष की बात ही पूछे, उस घर में न जाना चाहिए ॥३॥

यदिपरिष्काराद्यथा संकल्पनाद्यादृते भवति ।

मन्त्रे निष्कुर्यात्प्रोक्तं कल्पनाद्यादृमिषत् इत्येते ॥१५॥

भक्ति परिष्कय अर्थात् बहुत ज्ञान-ग्रहणान हो जाने से भवहा होती है, और हमेशा ज्ञाने रहने से अमाहर होता है। मन्त्रयाचक पर्वत पर मिष्ठों की सिर्षा कल्पन-बुद्ध से काट हा को इ धन बनाकर अर्पित है ॥१५॥

राजनीति

भृशम फमो धर्म प्रजाधर्म परिष्कल्पम् ।

भृशमिषत्त्वं किञ्च राजनीत्या ते विद्याम्भुये ॥१६॥

प्रजा का पाखन और पुष्टों का निम्न राजा का फज धर्म है, पर से दोबों ही बातें बिना नीति ज्ञाने नहीं हो सकती ॥१॥

राजा कल्पनाद्युक्तं राजा कल्पनाद्युक्तम् ।

राजा विद्या व माया व सर्वेषां न्यायवर्षिणाम् ॥१७॥

राजा अकल्पुर्मा का कल्पु है, और धर्मों की भाँख है। यही सबका माता पिता है—यदि वह न्याय से बसता हो तो। (अन्यथा वह राजु है) ॥१७॥

यथा ननु समादृते पञ्च पुष्पमि धृशम् ।

व्यस्यन्त्सुप्तेषु भार्गवमविहिंसना ॥१८॥

जैसे मीरा फूलोंको बिना हानि पहुँचाये—उन्की रक्षा करते हुए—मनु मध्य कर डेता है, वैसे ही राजा को उचित है कि, प्रजा को बिना किसी प्रकार की हानि पहुँचाये कर से मिया करे ॥१८॥

मोहाद्राजा स्वराष्ट्रं य कर्पयत्यनवेक्षया ।

सोचिराद् भ्रश्यते राज्याञ्जीविताच्च सबाधवः ॥४॥

जो राजा मोह या लालच में अन्धा होकर अपनी प्रजा को पीडित करता है, वह राज्य से शीघ्र ही भ्रष्ट हो जाता है, और अपने भाइयों-सहित अपने जीवन से हाथ धो बैठता । (अर्थात् प्रजा विगडकर उसके राज्य को छीन लेती है ; और उसको उसके आदमियों सहित मार डालती है ।) ॥४॥

द्विरण्यधान्यरत्नानि यानानि विविधानि च ।

तथान्यदपि यत्किञ्चित्प्रजाभ्य स्यान्महोपते ॥५॥

सोना-चादी, धन-धान्य, रत्न और विविध प्रकार के वाहन इत्यादि जो कुछ भी राजा के पास है, वह सब प्रजासे ही प्राप्त हुआ है ॥५॥

विद्याकलाना वृद्धि स्यात्तथा कुर्वान्नप सदा ।

विद्याकलोत्तमान्दृष्ट्वा घत्सरे पूजयेच्च वान् ॥६॥

इस लिए राजा को अपनी प्रजा के अन्दर विद्या और कलाकौशल इत्यादि की सदैव वृद्धि करते रहना चाहिए, और प्रति वर्ष, जो लोग इनमें विशेष योग्यता दिखलावें, उनको पूजते रहना चाहिए ॥६॥

नरपतिद्वितकृतां द्रेष्यता याति लोके

जनपदद्वितकृतां त्यज्यते पार्थिवेन्द्रैः ।

इति महतिपिरोधे घर्त्तमाने समाने

नृपतिजनपदाना दुर्लभः कार्यकृतां ॥७॥

जो राजाका द्वितकृता होता है, प्रजा उससे डरेप करती है, और यदि प्रजा के द्वित की तरफ विशेष ध्यान देता है, तो राजा उसे छोड़ देता है । यह बड़ी कठिनाई है । इस कठिनता को

सम्हास्यते ह्युप, एक ही समय में दोनों का ब्यवहार हित करता हुआ प्रकट जाय, ऐसा कार्यकर्ता दुर्लभ है ॥४५॥

नराधिया बौध्वात्पुत्रिणो बुधोऽदिव्येन क्वा न वादि नै ।

विद्वन्त्वो दुर्गममार्गं धीमं प्रवृत्तव्यवहारमथर्ववज्रम् ॥४६॥

जो राजा नीच जनोंके व्यवहार में भाकर विवेकशक्ति पुत्रों के व्यवहार में ही मार्ग में नहीं देखते, वे धारों धोर से घिरे हुए ऐसे विद्वानों में एक आते हैं कि जहाँ से विकल्पता फिर उनके हिय कस्मि हो जाता है ।

निपुणव्यवहारिणं पश्यन्पारासिन्धुमि नै बौध्वात्पुत्रिणात् ।

विद्वान्त्वव्यवहारिणुत्पुत्रिणा इत्यन्ति ते पश्यन्ति किमीत्या ॥४७॥

जो राजा अपनी मौकशाही के हाथमें सारा राज्यव्यवहार सौंपकर भाप महर्षी के सौम विद्वान में पड़े रहते हैं, वे मूर्ख राजा मार्ग विद्वानों के सुख को दुःख का मांडार सौंपकर भाप बेवहार सो रहे हैं ! ॥४७॥

राजो हि व्यवहित्वाः पश्यन्व्यवहारिणं प्रया ।

क्त्वा इत्यन्ति प्रायेण तेभ्यो ज्ञेयिणा प्रया ॥४८॥

राजा के अधिकारी प्रायः दूसरों के धन और मास को व्यर्थ ही खूटा करते हैं, इनसे प्रजाकी रक्षा करना राजा का परम कर्तव्य है ॥४८॥

प्रजास्थाः धानुभूतेन व्यवहारं विचिन्तयेत् ।

न व्यवहार्यादीं ज्ञापयन्त्यं प्रजास्थैः ॥४९॥

अधिकारी सोम प्रजा के धान्य बेसा बर्थाब करते हैं इस बात की आज्ञा राजा को पशुपातदहित होकर करना चाहिये ।

अधिकारियों का पक्ष न लेकर सदैव प्रजा का पक्ष लेना चाहिए ॥ ११ ॥

कौर्म' संकोधमास्थाय प्रहारानपि मशयेत् ।

काले काले च मतिमानुचिप्येत्कृष्णसर्पवत् ॥१२॥

युद्धिमान् राजा को कछुप की तरह अग सिकोड़कर शत्रु की चोट सहनी चाहिए, परन्तु समय समय पर काले सर्प की तरह फुड्कार कर उठ खड़ा होना चाहिए ॥ १२ ॥

उत्सावान्प्रतिरोपयन्कुष्ठमिताद्रिचन्वन् लघून्वर्धयन्

भत्युबान्तमयतान्समुद्रपन्विदलेपयन्संहतान् ।

ऋरान्कटकिनो बहिर्निरसयन्लानान् पुन सेचयन्

मालाकारइव प्रपंचतुरो राजा चिरं नन्दति ॥१३॥

उखडे हुआँ को जमाता हुआ, फूले हुआँ को चुनता हुआ, छोटों को बढ़ाता हुआ, ऊँचों को लचाता हुआ, और लचे हुआँ को उठाता हुआ, सगठनवालों को छिन्नभिन्न फरता हुआ, क्रूरों और कटकियों को बाहर निकालता हुआ कुम्हलाये हुआँ को फिर सींचता हुआ, माली की तरह प्रपञ्च में चतुर राजा बहुत दिन राज्य सुख भोगता है ॥ १३ ॥

कूटनीति

विचिन्वेद्यसि सर्वेषु कर्तव्या महती कथा ।

विषमस्तु न चाप्यस्तु कदाचोपो सर्वकरः ॥१॥

सर्व में चाहे बिप न हो, परन्तु फिर भी उसको अपना
काम उभारना चाहिये, क्योंकि बिप हो चाहे न हो केवल
अज्ञातोप भी दूसरे को उरवानेके छिप काफ़ी है ॥ १ ॥

वास्तव्यं धरतमोन्मत्तं पत्न्या पत्न्यं वसन्तमीयम् ।

क्रियन्ते धरतमस्तत्र ह्युपानिच्छन्ति वाप्याः ॥२॥

बहुधा सीधा नहीं चलना चाहिये । कम में आकर देखो ।
यहाँ सीधे सीधे सब कार डाली गये भीर देखे वृक्ष बड़े हैं ॥२॥

असती भवति कञ्चन द्वारं नीरं न निर्मलं भवति ।

धूम्यी ध्वस्ति तिलेही त्रिपलका भवति कूर्तव्या ॥३॥

कुम्हटा ली कम्हावती अस्ती है, कारा पानी बिर्यछ दिखाई
देता है, धूम्यी बिधेकी कवता है, नीर धुर्त मनुष्य भीठे बचन
बोझनेवाली होती है ॥ ३ ॥

वस्मिन्पथा वरति नो मनुष्यः वस्मिन्पथा वरितव्यं च यम् ।

मायाचारो मायया वरितव्या द्वाध्याचारो धावुया प्रतुनेन ॥४॥

जिस्के साथ जो मनुष्य जैसा चर्चाच करे वह भी उसके
साथ जैसा ही चर्चाच करे—यही धर्म है । कपटो के साथ कपट
का ही चर्चाच करना चाहिये और साधु के साथ सज्जवता का
व्यवहार करना चाहिये ॥ ४ ॥

व्यभिच वे मुचिन्ति वरन्तं व्यभिच मायास्तु मे न मायिना ।

प्रवित्तं विजयितं वरन्तव्यमिवा न संकृतम् विजितं इवेव ॥५॥

जो मनुष्य कपटी के साथ कपट का ही यत्नाव नहीं करते, वे मूर्ख हार खाते हैं; क्योंकि ऐसे भोले-भाले मनुष्यों को धूर्त लोग इस प्रकार मार डालते हैं, जैसे कवच-रहित मनुष्य को वाण, उसके शरीर में प्रविष्ट होकर, मार डालते हैं ॥ ५ ॥

साधारण नीति

तावद भयेषु भेतव्यं यावद्द भयमनागतम् ।

आगतं तु भयं हृष्ट्वा प्रहर्तव्यमशंक्या ॥१॥

भय को तभी तक डरना चाहिए, जब तक कि वह आया नहीं, और जब एक बार आ जाये, तब निश्शक होकर आक्रमण करना चाहिए ॥ १ ॥

न सा सभा यत्र न सन्ति वृद्धा वृद्धा न ते ये न वदन्ति धर्मम् ।

धर्मं स नो यत्र न सत्यसस्ति सत्यं न तद्यच्छ्लेनाभ्युपेतम् ॥२॥

वह सभा नहीं, जिसमें वृद्ध न हों। वे वृद्ध नहीं, जो धर्म न बतलावें। वह धर्म नहीं, जिसमें सत्य न हो, और वह सत्य नहीं, जो छल से भरा हो ॥ २ ॥

सर्वं परवशं दुःखं सर्वमात्मवशं सुखम् ।

एतद्विद्यात्समासेन लक्षणं सुखदुःखयो ॥३॥

परतन्त्रता एक बड़ा भारी दुःख है; और स्वतन्त्रता ही सब से बड़ा सुख है। संक्षेप में यही सुखदुःख का लक्षण है ॥ ३ ॥

न वेत्ति यो यस्य गुणप्रकर्षं स तं सदा निन्दति नाम्न विग्रम् ।

यथा किरावी करिकुम्भलब्धां मुक्तां परित्यज्य विमर्ति गुजाम् ॥४॥

जो जिसके गुण का प्रभाव नहीं जानता वह उसकी सदा

कूटनीति

विशिष्येभ्यसि कर्त्तव्यं कर्त्तव्या मद्रथैः कथम् ।

विममस्तु न चापस्तु कदाचोपो पर्यकरा ॥१॥

सर्पे में चाहे बिप न हो परन्तु फिर भी उसको अपना फल बसाकरा चाहिए, क्योंकि बिप हो चाहे न हो केवल कदाचोप भी दूसरे को डरवानेके लिए काफी है ॥ १ ॥

वास्तव्यं कदाचोपेभ्यः कथम् कथम् कथम् ।

किञ्चिन्ने कदाचोपेभ्यः कथम् कथम् कथम् ॥२॥

बहुधा सीमा वहीं बनना चाहिए । जब मैं जानकर देखो । वहाँ सीमे सीमे सब बात डाले गये, भीर देखे हुए कड़े हैं ॥२॥

कस्मिन् सति सत्त्वा धारं वीरं च निर्मलं भवति ।

कस्मिन् भवति सिन्धौ प्रियवच्य भवति कूर्तव्या ॥३॥

कुम्हटा की कम्हावती बनती है, बारा पानी निर्मल दिखाई देता है, कस्मी बिदेकी कता है, भीर धूर्त मनुष्य मीठे कथन बोझनेवाली होते हैं ॥ ३ ॥

वकिञ्चनवा वक्ति नो मनुष्यः वकिञ्चनवा वक्तिञ्चनं च कथम् ।

मावाच्यते मानवा वक्तिञ्चनं प्राप्त्वावाच्य कदाचुवा प्रत्युपेय ॥४॥

किसके साथ जो मनुष्य बैसा कर्त्ताच करे, वह भी उसके साथ बैसा ही कर्त्ताच करे—यही धर्म है । कपटी के साथ कपट का ही कर्त्ताच करना चाहिए । भीर साधु के साथ सत्कर्मता का व्यवहार करना चाहिए ॥ ४ ॥

वदन्ति ते मृगयित्वा पराकर्म वदन्ति मावाच्यिन्ते न मावाच्यः ।

प्रदित्वा विदन्ति कथञ्चनवाचिवा न कथञ्चनवा विदित्वा इत्येवम् ॥५॥

जो मनुष्य कपटी के साथ कपट का ही यत्नाय नहीं करते, वे मूर्ख हार खाते हैं; क्योंकि ऐसे भोले-भाले मनुष्यों को धूर्त लोग इस प्रकार मार डालते हैं, जैसे कवच-रहित मनुष्य को गण, उसके शरीर में प्रविष्ट होकर, मार डालते हैं ॥ ५ ॥

साधारण नीति

तावद् भयेषु भेतव्यं यावद् मयमनागतम् ।

जागर्तुं तु भयं शृष्ट्वा प्रहर्षय्यमदांक्ष्या ॥१॥

भय को तभी तक डरना चाहिए, जब तक कि वह धाया नहीं, और जब एक चार धा जाये, तब निश्चरु होकर आक्रमण करना चाहिए ॥ १ ॥

न सा सभा यत्र न सन्ति वृद्धा वृद्धा न ते ये न षडन्ति धर्मम् ।

धर्मं स नो यत्र न सत्यसन्ति मृत्यु न तद्यच्छ्रेयान्युपेतम् ॥२॥

वह सभा नहीं, जिसमें वृद्ध न हों। वे वृद्ध नहीं, जो धर्म न प्रतलावें। वह धर्म नहीं, जिसमें सत्य न हो, और वह सत्य नहीं, जो छल से मरा हो ॥ २ ॥

सर्वं पशुदां दुःखं सर्वमात्मवदां सुखम् ।

एतद्विधात्समासेन लक्षणं सुखदुःखयो ॥३॥

परतन्त्रता एक बड़ा भारी दुःख है; और स्वतंत्रता ही सब से बड़ा सुख है। संक्षेप में यही सुखदुःख का लक्षण है ॥ ३ ॥

न वेत्ति यो यस्य गुणप्रकर्षं स तं सदा निन्दति नात्र विप्रम् ।

यया किगती करिक्कम्मल्लवा मुक्खा परित्वज्य विनर्ति गुंत्ताम् ॥४॥

जो जिसके गुण का प्रभाव नहीं जानता वह उसकी सदा

बिन्दा करता है, इसमें कोई विचित्रता नहीं। देखो, मिट्टिबी गजमुक्का को छोड़कर पुँषवियों की भाषा पहनती है ॥ ४ ॥

अग्निराया सिन्धवा मूर्धं सर्पे राजकुडानि च ।

किन्त्वं कल्पनं लेख्यानि सदा प्राक्कुर्यानि च् ॥५॥

अग्नि मूक छी मूर्धे, सर्पे राजकुंडल, इनका सदा सन्ध-धानी के साथ लेपन करना चाहिए, क्योंकि ये छे लक्ष्मण प्राण को हरनेवाले हैं ॥ ५ ॥

मित्र बन्धनवादी मित्रो ज्यति विपुलितकार्यकरोमिहं कर्तव्यं ।

बहुमित्रकरा एवं बधते कश्च धर्मोक्तं च यदि कथ्यते ॥६॥

मित्र बन्धन बोलने वाला मित्र होता है, बिचार पूर्वक अच्छा काम करती बाधा विशेष सफलता प्राप्त करता है बहुत मित्र फनामेवासा सुखी रहता है, भौर जो धर्म में रत रहता है, वह सद्गुणति पाता है ॥ ६ ॥

स्तम्भकश्च कल्पति बधो विपुलश्च धैरी

बधेन्मित्रकश्च कुलधर्मोत्पन्न धर्मः ।

विवाहकं ज्यतिवा कुलकश्च सौम्यं

एवं प्रमत्तमपि कश्च कर्तव्यम् ॥७॥

बुध बौद्ध रहनेवाले का धरा नाश हो जाता है, जिनका चित्त एक समान नहीं होता उनकी मित्रता नष्ट हो जाती है जो हस्त्रियोंके बध होते हैं—पानी बुधकारी होते हैं, इनका कुल नष्ट हो जाता है, जो धर्म के पीछे पड़े रहते हैं, इनका धर्म नष्ट हो जाता है ज्यसमों में पँस जलियालों का विधा-पन्न नष्ट हो जाता है, झाड़की का सुख नष्ट हो जाता है, भौर जिस राजा का मंत्री प्रमादी यात्री कायरबाह होता है, उसका राज्य नष्ट हो जाता है ॥ ७ ॥

काके शौचं धृत्कारे च सत्यं सर्पे क्षान्तिर्यौवने कामशान्तिः ।

क्लीत्रे धैर्यं मद्यपे तत्रचिन्ता राजा मित्रं केन हृष्टं श्रुतं वा ॥८॥

कौवे में पवित्रता, जुआरी में सत्य, सर्पमें क्षमा, युवावस्था में काम की शान्ति, नपुंसक में धैर्य, मद्यपी में विवेक, और राजा मित्र—ये बातें किसी ने देखी अथवा सुनी हैं? ॥८॥

कोविभार समर्थानां किं दूर व्यवसायिनाम् ।

को विदेश सविद्यानां क पर प्रियवादिनाम् ॥९॥

शक्तिशाली पुरुष के लिये कौन सा काम बहुत भारी है? व्यवसायी के लिये कौन सा देश बहुत दूर है? विद्वान् के लिये कहा विदेश है? प्रिय बोलने वाले के लिए कौन पराया है? ॥९॥

कुग्राम वास कुलहीनसेवा कुमोजन क्रोधमुखी च भार्या ।

पुत्रद्वय मूर्खौ विधवा च कन्या विनाग्निना पट् प्रदहन्ति कायम् ॥१०॥

कुग्राम का वास, नीच की सेवा, बुरा भोजन, क्रोधमुखी भार्या, मूर्ख पुत्र, विधवा कन्या, ये छै बातें, विना अग्नि के ही, शरीर को जलाती हैं ॥१०॥

कान्वावियोग' स्वजनापमानौ रणस्य शेष कुनृपस्य सेवा ।

दरिद्रभावो विपमा सभा च विनाग्निमेते प्रदहन्ति कायम् ॥११॥

स्त्रीका वियोग, अपने ही लोगोंके द्वारा किया हुआ अपमान, रण से बचकर भगा हुआ वैरी, बुरे राजा की सेवा, निर्धनता, फूटवाली सभा, ये विना अग्नि के शरीर जलाती हैं ।

व्यवहार-नीति

चिन्तातुरात्वं न दुर्धनं न मित्रा अर्थात्तुरात्वं स्वकरो न कर्तुः ।

कामातुरात्वं न धर्मं न कर्मात्तुरात्वं न कर्त्तुं न तेजः ॥१॥

चिन्तातुर मनुष्य को न सुख है, न मित्रा है। धर्म के सिधे भातुर मनुष्य को न कोई स्वकर्म है, और न कर्तु है। कामातुर मनुष्य को न भय है, न छद्मा है। और इष्टातुर के पास न कर्म है, न तेज है ॥१॥

धर्मं कथा धर्मकथासि तुल्यं कर्तुं सेवा पुत्राभिमाम् ॥

वाग्वा पुत्रत्वं पुत्रजातवपुत्रा सिन्धु कर्त्तुं इत्यन्वया न धर्मम् ॥२॥

बुद्धापा रूप को धार्मिक सारे सुख को, पुत्र की सेवा पुत्र्य के अभिमान को वाक्ता बहप्लन को, अपनी प्रशंसा गुण का चिन्ता कर्म को और निर्धर्मता धर्म को नाश कर देती है ॥२॥

धीशरोमन्मन्मन्तुः कर्मोन्मुक्तलोकेन्द्रकः ।

धार्मिकवद्वानो विभोबुग्मावदम् ॥३॥

रोम नख, दन्ती-मूछ इत्यादि इजामत के बाध कर्मका कटका कर छोटे रखना चाहिये—बहुत बड़े बड़े न रखना चाहिये। स्वच्छ बहवाभूषण इत्यादि धारण करके सम्यक्ता का प्रेय रखना चाहिये। हाथ में छाता और पैर में जूता इत्यादि धारण करके धार प्रथम भागी ईश कर रखना चाहिये ॥३॥

ध्यानेनेव विचोचन्वा ध्यावथावदवधि न ।

न हि कृद्यमणि वारे सुजं गुडि वापते ॥४॥

लौकिकों को और भामुष्यों को अपनी अपनी अग्रह डीक ठीक विपुल करना चाहिये, क्योंकि शीघ्रकृष्ण पैर में और पाशेष क्षिर पर धारण नहीं किया जा सकता ॥४॥

ज्ञाने पंथा. ज्ञाने कथा ज्ञाने पर्वतमस्तके ।

ज्ञानेर्विद्या ज्ञानेर्वित्तं पंचैतानि ज्ञाने ज्ञाने ॥५॥

रास्ता चलना, कथरी गूथना, पर्वत के मस्तक पर चढ़ना, विद्या पढ़ना, धन जोड़ना—ये पाच बातें धीरे ही धीरे होती हैं ॥५॥

दाने तपसि शौर्ये वा विज्ञाने विनये नये ।

विस्मयो न हि कर्त्तव्य बहुरज्ञा वसन्धरा ॥६॥

दान में, तप में, शूरता में, विज्ञान में, विनय में और नीतिमत्ता में विस्मय नहीं करना चाहिये ; क्योंकि पृथ्वी बहुत रत्नोंवाली है—साराश यह कि, पृथ्वी पर एक से एक बड़े दानी, तपस्वी, शूरवीर, विज्ञानवेत्ता, विनयशील और नीतिज्ञ पुरुष पड़े हुए हैं।

धनधान्यप्रयोगेषु विद्या संग्रहणेषु च ।

आहारे व्यवहारे च त्यक्तलज्जं सुखी भवेत् ॥७॥

धनधान्य के व्यवहार में, विद्या पढ़ने में और आहार व्यवहार में लज्जा छोड़ देने से ही सुख मिलता है ॥७॥

कालं निषम्य कार्याणि द्वाचरेन्नान्यथा क्वचित् ।

गच्छेद्विनियमेनैव सर्वैवान्तं पुरं नर ॥८॥

समय को बाधकर सब काम सदैव करना चाहिये । अनियमित रूप से कभी आचरण न करना चाहिये । हा, घर के अन्दर अनियमित रूप से भी सदैव जाते रहना चाहिये ॥८॥

खादन्नं गच्छामि. हसन्नं जल्पे गतं न शोचामि कृतं न मन्ये ।

द्वाम्या तृतीयो न भवामि राजन् किं कारणं भोज भवामि मूर्ख ॥९॥

मैं खाता हुआ मार्ग नहीं चलता हूँ, और बहुत यात करते हुए बहुत हँसता नहीं हूँ । गये हुए का शोच नहीं करता, और

जहाँ दो भावनी एकान्त में बात करती हों, यहाँ मैं (तीसरा)
जाता भी नहीं—फिर हे राजा भोज, मैं मूर्ख क्यों हूँ ? ॥२॥

प्रथमे बार्ह्विणा विद्या द्वितीये बार्ह्विणं कस्य ।

तृतीये बार्ह्विणं पुण्यं कस्युर्बे किं करिष्यति ॥१॥ ॥

प्रथमा भवस्यामिं विद्या नहीं सम्पादित की दूसरी भवस्या
में फल नहीं उपार्जित किया तीसरी भवस्यामिं पुण्य नहीं
कमाया तो फिर चौथी भवस्या—बुढ़ापे—में क्या करेगी ? १०

कुपयन्नाग्नेन कुता प्रयातुं कुमिबन्धितेन ह्योऽग्निविहृति ।

ह्याप्यारैश्च कुता गृहे रतिः ह्यग्निमन्वापन्तु ह्यो कस्य ॥११॥

मत्पायी राजाके राज्य में प्रजा को सुख कहाँ ? कपटी
मित्र की मित्रता में सुख कहाँ ? शुश्रूषी स्त्री के साथ घर में
सुख कहाँ ? भीरु बराब शिष्यको फड़ाने से यत्न कहाँ ? ॥११॥

स्फुट

बहु बहुभीष्टं गतिरपि त्वा बहिष्करन्वा

विहीनं क्वाकिः मन्वन्निष्ठं धोत कुम्भम् ।

किं तु क्वं बहुन्तिमिरच्छैराह्वयमाहो

मनो मे किञ्चिदं त्वरि विरहेन्वा स्मृत्तवि ॥१॥

कमर डेढ़ी पड़ गई है, छाडी के सहारे खसता हूँ, हाँव
डूट पड़े हैं, काम पहरें हाँ रहे हैं, खिर के बाक सपेज हो
रहे हैं, बाँधों के सामने धंसेरा छाया रहता है, तथापि मेरा
यह किञ्चिदं मय विपर्या की ही रचना करता रहता है ॥१॥

क्वचिद्विद्वद्गोष्ठी क्वचिदपि सुरामत्तकलह
 क्वचिद्वीणावाद्य क्वचिदपि च होहेति रुदितम् ।
 क्वचिद्रम्या रामा क्वचिदपि जराजर्जर तनु ।
 न जाने संसार किममृतमय किं विषमय ॥२॥

कहीं विद्वान् लोग सभा कर रहे हैं, कहीं शरावी लोग मस्त होकर लड़ रहे हैं, कहीं वीणा बज रही हैं, कहीं हाय हाय कर के लोग रो रहे हैं, कहीं सुन्दर रमणीय स्त्रिया दिखाई दे रही हैं, कहीं बुढ़ापे से जीर्णजर्जर शरीर । जान नहीं पडता कि यह संसार अमृतमय है अथवा विषमय ॥२॥

बन्धनानि खलु सन्ति बहूनि प्रेमरञ्जु दृढ बधनमाहु ।

दाहमेदनिपुणोऽपि पदंभिर्निष्क्रियो भवति पङ्कजकोशे ॥३॥

संसार में बहुत प्रकार के बधन है, परन्तु प्रेम का बधन सब से अधिक मजबूत है— देखो भौरा, जो काठ में भी छेद कर देता है, वही जब कमल-कोश में रात को बँध जाता है, तब कुछ नहीं कर सकता ॥३॥

चित्ते भ्रान्तिजायते मद्यपानात् भ्रान्ते चित्ते पापचर्यामुपैति ।

पापं कृत्वा दुर्गतिं यान्ति मूढा तस्मान्मद्यं नैव पेय न पेयम् ॥४॥

मद्यपान से चित्त में भ्रान्ति उत्पन्न होती है, और चित्त में भ्रान्ति हो जाने से पाप की तरफ मन चलता है, पाप करने से दुर्गति होती है । इस लिए मद्यपान कभी न करना चाहिए ।

घातां च कौतुकवती विमला च विद्या

लोकोत्तर परिमलश्च कुरंगनाभे ।

तंलस्य विन्दुरिष घारिणि दुर्निवार-

मेतत्प्रयं प्रसरति स्वयमेव लोके ॥५॥

कौतूहल उत्पन्न करनेवाली धार्ता, सुन्दर विमल विद्या
भीर कस्तूरी की गन्ध—ये तीव्र स्वयं सब जगह फैल जाती है,
रोके नहीं रुक सकती—जिस प्रकार पानी में तेल का बुलबुल ॥६॥

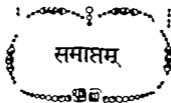
अथ पञ्चतन्त्रेण धर्मा धिरिच्छीकृतोपमं बौद्धम् ।

आयुष्यं अकल्पितुकोत्कल्पं पेत्रोपमं ज्ञेयम् ॥

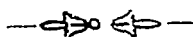
दानं चो न करोति निवृत्तमस्मिन्मैत्रं न मुञ्चे च वा ।

पञ्चादात्सुतो ज्ञानवपिञ्जः शोकशिक्षा ददाते ॥६॥

धन पैरों की धूल के समान है, अचानी पछाड़ी नहीं के बिना
के समान शीतलानी है, आयु अन्न के बजाय विष्णु के समान
स्थिर है जीवन पानी के पैर के समान स्रजमंगुर है। ऐसी
दशा में जी स्थिरपुष्टि होकर दान नहीं करते हैं, और न सुख
ही भोगते हैं, वे पुढ़ापे में पञ्चाक्षर शोक की भाग में अडलते
हैं ॥ ६ ॥



तरुण-भारत-ग्रन्थावली



(सन्पादक—पं० लक्ष्मीधर वाजपेयी)

स्वास्थ्य-सम्बन्धी पुस्तके

- १ आहारशास्त्र—लेखक आयुर्वेद-पंचानन पं जगन्नाथप्रसाद
जी शुभ्र भिषङ्मणि मूल्य २)
- २ प्राणायाम रहस्य—लेखक स्वामी सर्वानन्द जी सरस्वती मूल्य १॥)
- ३ हमारे बच्चे स्वस्थ और दीर्घजीवी कैसे हों ?—लेखक
आयुर्वेद-विशारद पं० महेन्द्रनाथ जी पाडेय, मूल्य १)
- ४ भोजन और स्वास्थ्यपर महात्मा गान्धीके प्रयोग—मू० ॥॥)
- ५ ब्रह्मचर्य पर महात्मा गान्धी के अनुभव— मूल्य ॥)
- ६ इच्छाशक्ति के चमत्कार—लेखक वायू बुद्धिसागर वर्मा
बी० ए० एल० टी० विशारद, मूल्य १-)
- ७ उप पान—लेखक प० लक्ष्मीप्रसाद जी पाडेय, मूल्य १-)
- ८ हमारा स्वर मधुर कैसे हो ?—लेखक धीरामरत्नाचार्य, मूल्य १-)
- ९ कान के रोग और उनकी चिकित्सा—लेखक "एक
अनुभवी" मूल्य १)
- १० दीर्घायु और दीर्घजीवियोंके अनुभव—लेखक प्रो०
विनयमोहन शर्मा एम० ए० एल० एल० बी० मूल्य ॥॥)

- २ बिहारा फुल—केवला श्रीमती स्वर्णमयी देवी मूल्य १४)
- ३ मीरज का मूल्य—केवल वा प्रयागकुमार
मुञ्जोराम्बा, मूल्य ११)
- ४ फुलवाकी—(ऐतिहासिक उपन्यास) केवल वा
शैलमोहन मूल्यार्थ मूल्य २)
- ५ बिपरी कोपड़ी—(प्रहसन)—केवल वा
अवधिसिंहारी काक बी ५ कक ५०० बी मूल्य ७)
- ६ तिरीप—(नामक) केवल वं रामेश्वरप्रसाद जी
गुल कुमार इत्यर्थ मूल्य १११)
- ७ सखारवा—(गुजरात की बीरपुत्रा) केवल वं
रामेश्वर प्रसादजी गुल "कुमार इत्यर्थ" मूल्य १११)
- ८ पापेयिका—(कथाविबोधा संवह) केवल वा
कुल मीरजार्थ मूल्य १)
- ९ व्यासु माता—केवल बीरजुत सखाराम जी बी ५ मूल्य १०)
- १० सङ्गुप्पी पुत्री—केवल बीरजुत सखारामजी बी ५ मूल्य १०)
- ११ महद महाराज की प्रयास-कथा—केवल वा
कान्त-मातुसिंह जी मूल्य १)
- १२ मासप्रतिमा—(कथाविबोधा संवह) केवल वा
दुर्लभपदाद कुल वाका बी ५ मूल्य ११)

पुस्तकें मिळनेका पता—

शैनेनर छरण भारत प्रन्वाबसी

बारागंज इलाहाबाद

